❑ श्री राम उवाच – 6

मन शुद्धि - परम सिद्धि

❑ आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❑ प्रवेश :
अक्षय तृतीया–जलगाँव, 11 मई 2005, 3100 प्रति

❑ मूल्य : 50/–

❑ अर्थ सहयोगी :
आर. रतनलाल रांका, चेन्नई

❑ प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❑ मुद्रक :
दिलीपकुमार वया "अमित"
'**मिच्छामि दुक्कडम्**' हिन्दी मासिक
12, वीरप्पन स्ट्रीट,साहुकारपेट, चेन्नई–600079
दूरभाष : (044) 25383350, 9382306388

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवं परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर हैं। आचार्यश्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की पछेवड़ी प्रदान की थी। आपका १९९७ का फाल्गुन (होली) चातुर्मास उदयपुर की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति आपके तत्कालीन कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनामा शब्द–शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया।

ग्रन्थ–प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी रांका, चेन्नई का अर्थ सहकार–रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के भरपूर सहकार से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है। श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएँ एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किये बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्यप्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्यप्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

अर्थ–सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका, चेन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6-6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। 'समता भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आप का मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी एवं श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न हैं। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद् मंत्री हैं। अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर के एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चेन्नई के आप न केवल उपाध्यक्ष हैं बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्ता भी हैं।

स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्वपूर्ण सहयोग रहता है। 'आर.आर. प्लास्टिक' आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संतसेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती हैं एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र- श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ व श्री आदेश व एक सुपौत्री महक हैं।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ट परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी विदुषी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के पाँच संग्रह निकल चुके हैं और अब यह छठा संग्रह आपके समक्ष है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ...

केशरीचंद सेठिया

अनुक्रम

1. मन की शुद्धि परम सिद्धि

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं के कल्याणार्थ जो भी दिव्य देशना दी वह सर्वत्र व्याप्त हुई और जो भी उस देशना में अवगाहन करने को तत्पर बना अथवा जिसने भी उसे ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त किया वह स्वयं तो आत्म कल्याण के सोपानों पर आरूढ़ हुआ ही अन्य लोगों के मार्गदर्शन के लिए स्वयं के पद-चिह्न भी छोड़ गया। अनेक आत्माओं ने उन पदचिह्नों का अनुसरण कर दुःख-सुख की अवस्थाओं से मुक्ति प्राप्त कर भव्य स्वरूप का वरण किया।

शास्त्रों में कहा गया है -

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।।

दुःख और सुख की ये जो अवस्थाएं प्रत्येक व्यक्ति के साथ जुड़ी हुई है, उनका कारण बताया गया है- मोह, अज्ञान, राग और द्वेष। जब तक ये उपस्थित रहते हैं तब तक व्यक्ति दुःखी रहता है। चाहे क्षण भर सुख का वह आभास कर ले पर यथार्थ में वहां सुख नहीं होता क्योंकि सुख होते हुए भी दुःख के कारण वहाँ मौजूद होते हैं। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति शांत बैठा है, एयर कण्डीशनर लगा है, कमरा ठंडा है और वह सोच रहा है कि मैं बहुत आराम में हूँ क्योंकि उसे गर्म हवा तथा गर्मी नहीं लग रही है। पर वहां उसके पास जनरेटर नहीं है। अचानक लाईट चली जाय तो क्या वह वहां सुख रूप में बना रहेगा ? नहीं, क्योंकि उसके पीछे कारण बने हुए हैं दुःख के। जब तक वे मौजूद रहेंगे तब तक सुख केवल सुखाभास रहेगा, इसलिए कहा गया है :-

"एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।"

एकान्त सुख मोक्ष है। उसे प्राप्त करना है तो मोह और अज्ञान का वर्जन करना होगा। राग-द्वेष से अपने आपको ऊपर उठाना होगा तब ज्ञान की ज्योत भीतर जलेगी और मोक्ष की अनुभूति होगी। तब यहाँ रहते हुए ही हम मोक्ष की अवस्था का ज्ञान कर लेंगे। फिर यहाँ से एकान्त-सुख रूपी स्थान के लिए हमारा गमन हो जायेगा। कई बार भाई कहते हैं कि महाराज ! हम इतनी साधना नहीं कर सकते, न इतने आगमों का अध्ययन कर सकते हैं, न स्वाध्याय के लिए समय है, हम तो केवल एक बात मानते हैं कि-

जीत पकड़ ले चरण गुरु का, बिन तारयां ही तिर जासी।

यह भी ठीक है क्योंकि यदि गुरु के चरण पकड़ लिये तो मुक्ति में चले जायेंगे। इस प्रकार वस्तुतः मुक्ति तक पहुंचा जा सकता है। कवि आनन्दघनजी ने भी कविता में संकेत किया है-

"सावधान मनसा करी, धारो जिन पद, सेव ललना..."

कहा गया भाई ! तू गुरु के चरण को ही पकड़ना चाहता है तो एक बात का ध्यान अवश्य रखना, सावधान मन हो कर पकड़ना। हो सकता है कई झटके लग जायं। सहज बात नहीं है। व्यक्ति विद्युत को पकड़ने जाता है पर यदि सावधानी नहीं रखी तो उसे करंट भी लग सकता है। गुरु के चरण की उपासना में यदि मन की सावधानी नहीं रही तो कभी-कभी कहा जाता है- "चौबेजी छब्बेजी बनने गए पर रह गये दुबेजी।" ऐसा होता है। व्यक्ति संभल नहीं पाता, सोचता है चरण पकड़ कर चल रहा हूँ तो पहुंच ही जाऊँगा, पर यह जरूरी नहीं है। ऐसी एक घटना है- गुरु अभ्यास क्रिया में रत थे और उन्होंने आकाश-गमन की लब्धि प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार आकाश में सफर करने की शक्ति उन्होंने पा ली थी। वे साधना में तन्मय होते और आकाश में उड़ान भरते। अपने शिष्यों को ऐसी उड़ान के अद्भुत संस्मरण भी सुनाते। शिष्यों के मन में विचार आया कि गुरुदेव आकाश में गमन करते हैं तो कभी हम भी करें, पर करें कैसे ? विचार आया कि जैसे पतंग की डोर को लटका दिया जाता है तो पतंग के साथ वह भी दूर तक चली

जाती है, वैसे ही जब गुरु साधना में बैठें हों तब हम उनके चरण पकड़ लें फिर एक-दूसरे के पैरों को पकड़ लें तो हम भी सैर कर पायेंगे। उन्होंने ऐसा ही किया। यात्रा प्रारंभ हुई। जैसे प्लेन उड़ता है, उसी रह आकाश में वे भी उड़ने लगे। शिष्यों ने सोचा- मजा आ गया, नये-नये दृश्य देखने को मिल रहे हैं। किसी ने कहा- यात्रा करते-करते संस्मरण भी सुनाते चलो और बात आ गई कि एक सप्ताह पहले घेवर खाने को मिले थे, उन पर रबड़ी लगी थी, अमुक जगह तो इतने छोटे-छोटे घेवर ही थे। तो ऊपर वाले ने कहा- तू क्या जानता है तू भूल गया। फिर उसने अपने दोनों हाथ फैलाकर बताना चाहा कि घेवर तो इतने बड़े थे। क्या हुआ होगा ? घेवर तो बता दिये। पर फिर गुरुजी तो विहरण करते रहे और शिष्य घेवर बताने के चक्कर में नीचे गिर गये। यदि इस तरह चरण पकड़े तो क्या स्थिति बनेगी ? इसलिए चरण पकड़ने हैं तो वहां बताया गया है- सावधान मनसा करी। चरण पकड़ने में सावधानी आवश्यक है।

कभी-कभी किसी भाई से कोई बात कही जाती है तो सधा-सधाया एक उत्तर आता है- "आपकी कृपा है, धर्म की कृपा है, गुरुदेव की कृपा है।" तब सोचना पड़ता है कि वस्तुतः गुरु-कृपा को तथा उनके आशीर्वाद को हमने ग्रहण किया है या केवल वचनों से कृपा का उच्चारण करते हैं ? कभी-कभी प्रसंग चलता है तो एक बात सामने आती है कि तीर्थंकरों में भी यह भेद क्यों कि एक पर तो वे करुणा करें, एक पर नहीं। परमात्मा प्रार्थना करने से खुश हो जायेंगे ? नहीं होंगे तो हमारा मकसद क्या है, प्रार्थना क्यों करें? यदि परमात्मा प्रार्थना करने से खुश होते हैं तो इसका मतलब यह भी है कि जो प्रार्थना नहीं करेगा उस पर नाराज भी होते होंगे। बातें तो बहुत सी कही जा सकती है पर विचारणीय यह है कि प्रार्थना या गुणगान हम किसलिए करते हैं ? कभी हम सोच लेते होंगे कि इससे भगवान खुश हो जायेंगे या हमारा आत्म-कल्याण होगा, या उनके जैसे गुणों का हम अपने जीवन में प्रवेश करा सकेंगे। पर यदि गहराई से विचार करें तो यह बात सामने आयेगी कि प्रार्थना या गुणगान हम अपने भीतर उस प्रकार की पात्रता उत्पन्न करने के

लिये करते हैं जिससे तीर्थंकरों की करुणा तथा वात्सल्य का उसमें ग्रहण हो सके। इसलिए हम जिन देवों की स्तुति करते हैं। आप कहेंगे महाराज ! यह बात किस आधार पर कह रहे हो ? आधार है उत्तराध्ययन सूत्र जो इस कथन की साक्षी प्रस्तुत करता है। स्तवन-स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? सात गाथा से जो ऊपर है, वह है स्तुति और जो अंदर है उसे स्तव कहा गया है। इसे मंगल माना गया है। यदि तीर्थंकरों अथवा गुरुदेवों की स्तुति की जाय तो उससे दर्शन विशुद्ध होता है अर्थात् ढका हुआ पात्र उद्घाटित होता है। इसे यों समझें- वर्षा हो रही है परन्तु पात्र ढंका हुआ है तो क्या वर्षा का पानी बर्तन में आयेगा ? पानी आ नहीं पायेगा। वैसे ही तीर्थंकरों की कृपा और गुरुदेवों के आशीर्वाद की वर्षा तो सतत रूप से हो रही है परन्तु हमारा अंतर ढका हुआ है, मिथ्यात्व और कालुष्य से हमने उसे ढक रखा है तब तीर्थंकरों की करुणा और वात्सल्य हमारे भीतर प्रविष्ट कैसे होंवे ? तब घट भर नहीं पायेगा। हमारा अंतर उसका स्पर्श भी नहीं कर पायेगा। स्तुति-स्तव से दर्शन विशुद्धि होती है। दर्शन-विशुद्धि से तात्पर्य है कि मिथ्यात्व का कालुष्य जो अंतर में भरा था, वह दूर होता है, पात्रता आती है और पात्र में वह करुणा प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार हम करुणा के अधिकारी बन जाते हैं। भारतीय संस्कृति का तो आदर्श ही है -

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, गुरुदेवो भव और अतिथिदेवो भव।

ये देव के तुल्य हैं। आप पूछेंगे- अतिथि किसे कहें। अतिथि वह जो तिथि-बंधी न ले और तिथि बांध ले कि ३० को आपके घर आऊँगा, फिर आऊँगा, ३१ ता. को आपके घर तो वह अतिथि कहाँ रहा ? क्या संतों को ऐसे आना चाहिए ? नहीं, कहा गया है- तेड़िया आवे नहीं, नौतिया जीमें नहीं। यदि स्थान पर आकर निमंत्रण दे कि हमारे यहाँ गोचरी हेतु चलना है तो संत कह दें कि इस प्रकार यहाँ नहीं बोलना चाहिए। यदि वह नाराज हो जाये कि बोलने भी नहीं देते और आते भी नहीं तो उन्हें यह ध्यान दिला दिया जाना चाहिए कि यदि संत भिक्षा के लिये बाहर मिल जाय या

राह में निकले तो साथ में सेवा कर सकते हैं, घर बता सकते हैं, लेकिन स्थान में निमंत्रण नहीं देना चाहिए। यदि दिया गया तो वह संत-जीवन के अनुकूल नहीं होता है।

मैं बतला रहा था कि गुरु भी अतिथि है। वे तो हैं ही किन्तु स्वधर्मी, भिखारी भी अतिथि हैं। प्रश्न होगा- भिखारी अतिथि है तो भिखारी को देव तुल्य क्यों माना ? जब वह द्वार पर खड़ा है तो आपके लिये पाथेय लेकर पहुँचा है। आपको अवसर मिला है। यह न समझिये कि उसे देकर आपने उसका उपकार किया है। आप देखेंगे कि वह अपने हृदय की सैंकड़ों दुआएँ देगा। उसकी यह उर्जा तो आपके प्रति तथा आपके परिवार के प्रति प्रवाहित होगी, वह आपके लिए हितकारी होगी। कभी कहते हैं- "गरीब को सता मत, उसकी हाय जड़-मूल को नष्ट करने वाली होती है।" जब उसकी हाय जड़-मूल से नष्ट कर सकती है तो उसकी खुशी, उसका आह्लाद कल्याण भी कर सकता है। आप तो उसे पैसा, दो पैसा देंगे पर वह पलट कर बहुत कुछ लेकर आता है। जैसे गाली के लिए कहते हैं- 'आवत गाली एक है, जावत होय अनेक' वैसे ही एक बार जो हाथ से देते हैं वह लेकर लौटता है न कि आपका कुछ ले जाता है। वैसे ही माता-पिता, गुरु का आशीर्वाद लेना चाहो या चरण सेवा करना चाहो तो, कवि सुझाव के रूप में कहते हैं कि, केवल जाकर पैर मत पकड़ लेना। पैर पकड़ना पर सावधान-मन होकर। जैसे गाय को दुहते हैं, दोहन करते हुए यदि सावधानी नहीं तो कई गायें तो सीधी खड़ी रहती हैं, किन्तु कई गायें पैर के झटके लगाती हैं। यदि सावधानी नहीं तो दूध छूट जायेगा, वैसे ही यदि हमारा मन सावधान नहीं और झटका लगा और पात्र छूट गया, छूट गया तो जितना दूध भरा था वह मिट्टी में मिल जायेगा, रह नहीं पायेगा। इसीलिये कहा जाता है कि यदि वस्तुतः आशीर्वाद चाहते है तो स्तुति से मन को शुद्ध करना।

"बिल्ली आये तो बचते रहना-बचते रहना" मात्र इतना रटते रहें तो सुरक्षा थोड़े ही हो जायेगी। बिल्ली अगर आ गई तो पकड़ ही ले जायेगी। हम कहते हैं कि मन, वचन, काया से सावधान रहना है पर कितने रह पाते हैं ? इतना सुनते हैं पर थोड़ी सी ऊँची-नीची अवस्था आई कि हम पुनः राग-द्वेष के अधीन बन जाते हैं, कर्म का शिकंजा हमें जकड़ लेता है। सोचने की आवश्यकता है कि कैसे मन को सावधान किया जाए। सावधान करने के लिए मन-वचन-काया पर और भाव मन पर जो विकार लगे हैं उन्हें दूर करना होगा। कैसे करें ? खेत में बीज पड़े हैं उन्हें खाद-पानी सिंचन मिलता रहा तो वे उगेंगे ही। यह भी पूछा जाता है कि क्रोध आवे ही नहीं इसके लिए क्या करें ? इसका उत्तर है कि खेत में बीज पड़े हैं उन्हें सिंचन मिला तो हरियाली होगी अतः समय रहते, उगते ही उसे काट दिया जाय। क्रोध उठे भी तो उसे अभिव्यक्त न होने दें। अभिव्यक्त न होने दें, इसका मतलब यह नहीं कि भीतर घुटते रहें। इसका मतलब वह है जो गौतम स्वामी ने उनसे पूछे गये इस प्रश्न के उत्तर के रूप में दिया था कि आप मन को कैसे नियंत्रण में रख सकते हैं। उन्होंने कहा था कि मैं श्रुत की लगाम से इस पर नियंत्रण रखता हूँ। मेरा विवेक जागृत रहता है, इसलिए बीज फूटें इसके पहले ही मैं सफाई कर देता हूँ। विहार के दौरान इस प्रकार के प्रयास का एक उदाहरण भी देखने को मिला। चित्तौड़ जिले की बात है। वहाँ अफीम की खेती हो रही थी। वहाँ सरकार का निर्धारण है कि अमुक जमीन से इतनी अफीम देनी होगी। मैंने कहा यदि इतनी न तो ? तो बताया गया, चाहे कहीं से लाओ, पर देनी पड़ेगी। दि उसे लगे कि फसल ज्यादा नहीं होगी तो वह अधिकारी को कर खेत जुतवा ले तो वह निर्धारण लागू नहीं होगा अन्यथा देनी पड़ेगी। यह सिद्धान्त हमारे साथ भी जुड़ जाता है। हमारे भीतर कषाय की खेती उगी है, यदि हमें नये फल की आकांक्षा नहीं है तो उसे जुतवा दो अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ इर्ष्या, डाह आदि के बीज यदि पैदा हुए तो पैदा होते ही उनका उन्मूलन कर दिया जाय, उन्हें नष्ट कर दिया जाय तो क्रोध-विजय, मान-विजय, माया-विजय,

लोभ-विजय जैसी विजयों की स्थिति बनेगी। उस स्थिति में मन बड़ा सावधान हो जायेगा। उस सावधानी से जो सेवा होगी वह अद्भुत होगी, उसमें जो जितना देगा उससे अनंत गुना अधिक की प्राप्ति का अधिकारी बनेगा।

रविन्द्रनाथ टैगोर एक घटना का चित्रण करते हैं। एक भिखारी भीख मांगता हुआ मार्ग पर खड़ा था। राज्य के सम्राट अश्व-जुते रथ पर सवार उधर से गुजर रहे थे, लोग जय-जयकार कर रहे थे। सम्राट के मुख पर तेजस्विता झलक रही थी। लोग आश्चर्यचकित थे अहो ! इतना बड़ा सम्राट ! रथ भिखारी के पास पहुँचा, सम्राट नीचे उतरे और भिखारी से मांगने लगे- 'भाई, तुम्हारे पास कुछ हो तो मुझे दे दो।' भिखारी घबरा गया। इतना बड़ा सम्राट, इतनी तेजस्विता ! इसे क्या दूँ ? वह निकला कंजूस। दिन भर घूमकर दो मुट्ठी अनाज जुटा पाया हूँ, वह भी इन्हें दे दिया तो मैं खाऊँगा क्या? पर फिर सोचा, भारतीय संस्कृति अतिथि को देवतुल्य मानती है। आये हुए को लौटाना नहीं चाहिये। हाथ झोले में डाला, एक दाना चावल निकाला और उसे दे दिया। सम्राट चला गया। भिखारी विचार करने लगा कि मेरा एक दाना चला गया। दिन भर घूमकर शाम को जब घर पहुंचा और झोला उल्टा किया तो शेष दाने तो चावल के ही थे पर एक दाना सोने का था, यह कैसी स्थिति ? उसे ज्ञात हुआ कि जो दिया था वही दाना सोने का बन गया था। वह रोने लगा- ओह ! मेरे भगवान्, यदि पहले मालूम होता तो मैं दो मुट्ठी चावल दे देता। मालूम होता तो दे देता, पर मालूम कैसे होता ? व्यापारिक बुद्धि तो लेन-देन में लाभ देखती है, लाभ नहीं दिखता तो नहीं देती है। पर ऐसा नहीं होना चाहिए, व्यवहार सौदा नहीं है। तीर्थंकर की सेवा की जाती है तो वहाँ सौदा नहीं होता है। वहाँ बिना किसी लाभ की आकांक्षा के पहले अपने आपको समाहित करना होता है। यदि दिल का कोई एक कोना दिया तो वही पवित्र होगा और पूरा दिया तो पूरा पवित्र होगा। फिर जो आनन्द आयेगा वह अनिर्वचनीय होगा। भिखारी को बहुत पश्चाताप हो रहा था- यह क्या कर दिया! आप सोचेंगे कि ऐसा भी होता है क्या ? होता है।

शालीभद्र ने एक बार तपस्वी को संगम के भव में दान दिया था। एक बार खीर बहराई थी, वह किस रूप में परिवर्तित हुई, मालूम है ? रोज कितनी पेटियाँ उतरती थीं। आप भी बहीखाते में लिखते हैं "शालीभद्र तणी रिद्धि"। इससे क्या आ जायेगी ? पर व्यापार मत करना। संगम ने व्यापार नहीं किया था किन्तु शुद्ध भावों से बहराया था। सहज उत्कृष्ट भावों से, वापस प्राप्ति की आकांक्षा के बिना बहराया था। आकांक्षा जुड़ी होती है तो फल सीमित हो जाता है। गीता में भी कहा है-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

फल की आकांक्षा मत कर, वहां सौदेबाजी नहीं चलेगी। यह सौदा तुम बाजार में, संसार में चला सकते हो पर अध्यात्म में सौदेबाजी नहीं चलती। तीर्थंकर या गुरु चरणों में पूर्णतया समर्पित हो जाना होता है।

"सावधान मनसा करीं, धारो जिनपद सेवा, ललना...।"

जिनेश्वर देव के पद-धारण करने की बात कही है। धारण कैसे करें ? पकड़ना एक अलग बात है। आते हैं, हम केवल चरण पकड़ना चाहते हैं पर धारण नहीं कर पाते हैं। कहा गया है -

"ध्यान मूलं गुरुर्पदो।"

यदि ऐसे भाव हृदय में अंकित होंगे तब ही चरण-धारण की स्थिति बनेगी और तभी हम सही रूप में सेवा के अधिकारी बनेंगे। नहीं तो तीर्थंकर देवों की सेवा नहीं बनेगी और न ही सेवा का यथेष्ठ लाभ मिल पायेगा।

रामायण का एक प्रसंग है। राम वनवासी बन गए। कारण जो भी रहे हों, मैं सारी रामायण नहीं सुना रहा हूँ। वन में १४ वर्ष व्यतीत कर रहे थे उसी दौरान महासती सीता को रावण ले गया। राम-रावण का युद्ध हुआ। वैसे नाम राम का ही आता है पर जैन सिद्धान्त की दृष्टि से युद्ध मुख्य रूप से लक्ष्मण से रहा पर राम बड़े थे इसलिए नाम राम का ही आता है। युद्ध में रावण मारा गया

और विभीषण को राजा बनाया गया। यह सब होने के बाद पुष्पक विमान में आरूढ़ होकर राम अयोध्या पहुंचे। इतने वर्षों बाद लौटे थे तो स्वागत तो होना ही था। आज की दुनिया भी चाहती है कि स्वागत-सत्कार करें। उसी तरह का आयोजन अयोध्या में रखा गया। सारी सभा भरी थी। युद्ध के समय में जिन-जिन राजाओं, सुग्रीव आदि ने सहयोग दिया था उन्हें भी आमंत्रित किया गया था, वे सभी पहुंचे थे। राम ने घोषणा की- जिन्होंने भी सहकार दिया है, उन्हें उपहार दिये जायेंगे। वे सभी को उपहार दे-दे कर संतुष्ट कर रहे थे। देखा गया- राम बैठे हैं, पास में सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सभी अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हैं, हनुमान भी बैठे हैं। सभी को उपहार दिये गये पर अब तक राम की निगाह हनुमान पर नहीं पड़ी। हनुमान बैठे रहे। कार्यक्रम समाप्त हो गया। बीच में बोलना उचित न समझा गया। कार्यक्रम समाप्ति के पश्चात् सीता ने राम के कानों में कहा- "यह कहाँ का न्याय ?" क्योंकि सीता जानती थी कि मुझे राम का संवाद सुनाने वाला, मेरी खोज करने वाला यही है। इसकी इतनी उपेक्षा की गई, उपहार तो दूर पर मुंह से दो शब्द भी इसके लिए नहीं निकले ? सीता को यह अखर गया और अखरा तो उसने राम के कान में कहा कि- आपने हनुमान को कुछ नहीं दिया। राम ने कहा- मैंने तो सबकुछ बांट दिया अब देना है तो तुम ही कुछ दे दो। कहते हैं सीता ने उसे अपना नवल हार दे दिया। लाखों की कीमत का हार लेकर हनुमान एक गली में पहुंचे और उसके टुकड़े कर-करके देखने लगे। लोग कहने लगे बंदर आखिर बंदर है, यह क्या जाने रत्नों की कीमत। बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद। बंदर तो वृक्ष पर कूदता है और अदरक जमीन पर होती है। लोग कहने से चूकते नहीं। वे उन रत्नों को तोड़-तोड़ करके देखने लगे-जिसमें राम नहीं वह मेरे किस काम का और ऐसे रत्न तोड़ कर फेंकने लगे। लोगों ने सीता से कहा- आपने ये क्या किया? सीता के पूछने पर उन्होंने बता दिया कि हनुमान ने क्या किया था। घटना लम्बी है। मैं अपने मूल विषय पर आ रहा हूँ कि राम ने सभी

को उपहार दिये पर हनुमान को नहीं दिया। यह न्याय किया क्या राम ने ? आप से ही पूछ लूँ। आप भले दबी जबान से न बोलें पर लगता तो यही है कि यह ठीक नहीं किया। सब को दिया पर उस पर एक दृष्टि भी नहीं डाली। हनुमान ने कितना किया था ? हनुमान की ही शक्ति थी कि समुद्र को लांघा, फिर सीता को राम का संदेश सुनाया। राम को सीता की खबर सुनाई, युद्ध में घोर पराक्रम दिखाया उस सब को भूलना- राम का औचित्यपूर्ण कार्य नहीं हो सकता। क्या कहेंगे आप, राम ने अच्छा किया या बुरा ? बंधुओं, उन्होंने जो किया वह समय पर ज्ञात हो सकेगा। मैं पहले भी कह गया हूँ कि एक दाना जिसने दिया उसके लिए वह दाना सोने का बन गया। आज आप जिस प्रांगण में बैठे हैं और व्याख्यान सुन रहे हैं, युगदृष्टा, युगसृष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य की प्रेरणा से ही यह संभव हुआ है। यहाँ प्रेरणा का मतलब यह नहीं कि उन्होंने कहा हो ऐसा भवन बनाओ। उनकी प्रेरणा थी कि बच्चों में शुद्ध संस्कार आने चाहिए। आज के युग में अलग से सोचें तो बच्चों के पास समय नहीं है क्योंकि अध्ययन के लिए कोर्स भी काफी रहता है, फिर कुछ समय टी.वी. और मनोरंजन के लिए भी चाहिए होता है। उन्हें फुर्सत नहीं होती। ऐसी स्थिति में यदि एक पीरियड प्रवचन का भी जुड़ जाए तो क्या यह उनका सौभाग्य नहीं है ? आज इस संस्था का जो कुछ रूप बना है उसकी मुझे कुछ जानकारी मिली है। अध्यक्ष श्री संग्रामसिंहजी एवं प्रिंसिपल श्री कछारजी से मैंने सुना कि पहले यह पौषधशाला के सीमित दायरे में चलने वाला था और आज अपनी इतनी विकास यात्रा तय कर पाया है। यह सब ऐसे ही नहीं हो गया। इसके लिये अपना कुछ अर्पण करना होता है। अध्यक्ष साहब से सुना कि वे पिछले १५ वर्षों से जुड़े हैं। अन्य भी जुड़े हुए हैं। मैं यह मानकर चलता हूँ कि किसी अच्छे कार्य में सभी को अपना सहयोग देना चाहिये। जिसके पास धन है तो वह धन से, कोई मन से, कोई वचन से और कोई काया से दान का कार्य करे। धन का दान करने वाले तो बहुत मिलेंगे,

मन का दान करने वाले भी मिलेंगे पर काया का और वचन का दान सहज नहीं है। समय का दान विरले ही कर पाते हैं। जब तक व्यक्ति योग नहीं दे तब तक एक, अनेक बन कर उजागर नहीं हो सकता। यदि उसका पल्लवन-सिंचन नहीं हो तो जो संस्था बनी है, उसका अपेक्षित विकास नहीं हो पाता। यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं को उससे जोड़कर चले। आज स्थिति यह बन गई है कि व्यक्ति सोचता है कि मुझे तो दो वर्ष के लिये अध्यक्ष पद या मंत्री पद मिला है। अध्यक्ष बनकर ज्यादा से ज्यादा मालाएं पहन लूँ। माला पहनने के लिए मंच की आवश्यकता होती है। इसलिए हम आज मंच से नीचे आ गये। मंच पर आ जायें तो धरातल तैयार नहीं होगा, सब-कुछ ऊपर-ऊपर से निकल जायेगा वैसे ही जैसे जब समुद्र में तूफान आता है तो ऊपर-ऊपर आता है और जाते-जाते नुक्शान ही कर जाता है। बहुत कुछ तहस-नहस भी कर डालता है। वैसे ही अध्यक्ष या मंत्री बनकर कोई सोचे कि माला पहन लें, हमारी पूछ होनी चाहिए तो समझ लीजिये कि पूंछ लगी तो वे मनुष्य नहीं रह पायेंगे। पूंछ होती है पशु के। मनुष्यों के पूंछ देखी क्या किसी ने ? पर यदि पूंछ लगा लेते हैं तो मानव नहीं रहेंगे, पशु की श्रेणी में चले जायेंगे। पूछ के पीछे नहीं किन्तु कर्तव्य के पीछे कर्म करें। जैसा गीता में भी कहा गया है-

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

अपना कर्तव्य करता चल, फल की आकांक्षा मत कर। दुनिया तो देखेगी, रंगीन चश्मे से। रंगीन चश्मे से रंगीन ही दिखेगा। वह इधर की भी बन जायेगी और उधर की भी। एक बाल कथा है -"म्हारो मामो जीते है।"

एक जंगल था वहाँ शेर रहता था तो भालू, चीते, सियार आदि दूसरे जानवर भी रहते थे। वैसे तो सियार दब्बू होता है पर बुद्धि से चतुर होता है। ऐसी गोटियाँ फिट करता है कि किसी को पता नहीं पड़ता। उसमें चालाकी होती है और चालाकी से तीर फेंकता है।

दूसरे के कंधों पर तीर रख देता पर उससे मालूम ही नहीं पड़ता। बात ऐसे ही एक सियार शावक की है। एक दिन उसके माता-पिता निकल गये थे। मांद में पानी भर गया तो वह भी बाहर निकला। बाहर निकला तो शेर की दहाड़ सुनी। वह डर गया, छोटा बालक ही तो था। सोचने लगा अब क्या करूँ ? आज ही निकला और आज ही यह खतरा आ गया। अब तो बचना मुश्किल है। किन्तु उसमें सियार बुद्धि थी, जैसे ही शेर सामने आया, उसने कहा- "शेर मामा ! राम-राम।" शेर ने कहा- "मैं तेरा मामा ? यह संबंध कब से ?" "ओ हो मामाजी आप तो भूल गये पर मेरी माता कई बार कहती है कि मेरा मामा शेर बड़ा खूंखार है, उसके आगे किसी की भी नहीं चलती। यदि कभी तुझे दुःख दर्द हो तो उन्हें याद कर लेना।" ओ हो ! पूंछ लग गई मामाजी के तो। "तेरी माँ ठीक कहती है जब तू संकट में आये तो मुझे कह देना।" सियाल ने देखा, पीछे मुड़े तो वहाँ भालू खड़ा था। उसने युक्ति सोच ली और शेर से कहने लगा- "मामाजी मैं तो आपसे रामा-सामा करने ही आया हूँ। अब मेरी जिन्दगी खतम होने वाली है।" शेर ने पूछा- "ऐसी क्या बात है ?" उत्तर मिला- "मैं आपसे मिलने आ रहा था तो मार्ग में मिला भालू। उसने कहा तुझे खाऊँगा। मैंने कहा मैं आज पहली बार मामाजी से मिलने जा रहा हूँ। उसने नाम पूछा तो मैं ने आपका नाम बता दिया, तो वह गरजा, शेर की बात करते हो वह तो मेरे से डरता है। मैंने उससे बहुत कुछ कहा भी सही पर उसने तो मेरी एक नहीं सुनी और कहने लगा- मैं शेर को कुछ नहीं समझता। मैंने उससे बहुत विनती की पर जब उसने बात नहीं सुनी तो मैंने कहा-मैं मामाजी से एक बार मिलना चाहता हूँ, मिलकर वापस आ जाऊँगा। अतः अब वापस जा रहा हूँ। मैं तो आपको नमन करने ही आया था। अब नमन-दर्शन करके जा रहा हूँ, क्योंकि मैंने उसे जबान दे रखी है। शेर ने कहा- तू जायेगा, तो जा। मैं देख रहा हूँ। यदि उसने कुछ बिगाड़ा तो मैं उसे जिन्दा नहीं छोड़ूँगा। एक बात का ध्यान रखना तू, उस टेकरी पर बैठकर देखना मैं उसे कैसे पछाड़ता

हूँ। सियार चला और वहाँ पहुंच कर बोला–"भालू मामा ! राम-राम।" और जैसी बातों से शेर को फंसाया था वैसी ही बातें भालू से करने लगा। भालू ने भी कह दिया- जा टेकरी पर बैठ कर देखना। वह पहुंच गया टेकरी पर-देखूँ अब क्या तमाशा होता है। वह तो टेकरी पर चढ़ गया, इधर शेर और भालू पैंतरे बदलने लगे। दोनों में गुत्थमगुत्था हो गई और वह ताली पीट-पीट कर कहने लगा– "म्हारो मामो जीते है।" वे दोनों सोच रहे थे कि वह उसकी जीत के लिए कह रहा था। दोनों लड़ते रहे और वह तालियां बजाता रहा। पूंछ के पीछे लगे तो ऐसी ही स्थिति बनेगी और मिलेगा कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में समाज का और संस्था का भी पल्लवन नहीं होगा। एक-दूसरे के दोष देखने में लगे रहे तो कुछ उपलब्ध नहीं होगा।

हनुमान को भी कहने वाले मिले होंगे-"ओ हो ! गजब हो गया! राम ने तुम्हें कुछ नहीं दिया, तुमने तो इतना किया और उसने कुछ उपहार भी नहीं दिया, नाम भी नहीं लिया, माला भी नहीं पहनाई!!" ऐसा कहने वाले न मिले हों ऐसी बात नहीं। नहीं भी मिले हों तो, सीता के मन में तो बात आ ही गई थी। पर आपने रामायण के दूसरे पहलू पर विचार नहीं किया होगा कि राम ने ध्यान दिया था या नहीं ? और दिया था तो किस प्रकार और यदि नहीं दिया था तो क्यों नहीं ? पर गहराई से यदि विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि राम के पास हनुमान को देने के लिए बचा ही क्या था ? ऊपर-ऊपर की जो चीजें देनी थी, वे तो दे दी थीं। हनुमान ने पाने के लिए कोई कोना बचाया ही नहीं था, स्वयं को पूरा का पूरा चरणों में सौंप दिया था। सर्वतोभावेन समर्पण कर दिया था। मन, वचन, काया का कहीं से भी गोपन न कर स्वयं को पूरा का पूरा, राम के प्रति समर्पित कर दिया था। सावधानी से चरण पकड़े थे तो राम ने भी देने में विचार नहीं किया था। दूसरों ने तो जितना-जितना किया था उनको उतना-उतना दे दिया। पर हनुमान ने तो सर्वतोभावेन स्वयं को समर्पित किया था तो वे स्वयं ही उसके

घट में बैठ गये थे। हनुमान ने छाती चीरी तो क्या निकला ? लोगों ने कहा हीरे में राम नहीं तो घट में है क्या ? हाँ है, मैं बता सकता हूँ और शायद इतिहास में दूसरा ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलेगा कि किसी ने छाती चीरी हो और वहाँ राम मिले हों। राम कहते हैं- देने को रहा क्या ? मैं स्वयं जिसका बन गया, मैं स्वयं जिस घट में पहुंच गया उसे माला दूँ, क्या अन्य चीजें दूँ। यदि आप परमात्मा की सेवा करना चाहते हैं तो बनिये हनुमान की तरह। फिर देखिये कितना आनन्द आता है। दुनिया भले कहती रहे कुछ नहीं दिया, सत्कार सम्मान भी नहीं किया, परन्तु हनुमान के मन में कभी ऐसी कोई भावना ही नहीं आई कि सभा में मेरा नाम नहीं लिया गया, मुझे खड़ा नहीं किया गया। उनकी इतनी निर्मल भक्ति और सेवा के कारण इतने युग बीत जाने के बाद भी उनका नाम आदर्श सेवक के रूप में लिया जाता है। वस्तुतः प्राणप्रण से जिसकी समर्पणा है वह कभी विचार नहीं करेगा कि मेरा नाम नहीं लिया जाता। अरे भाई ! नाम तो चक्रवर्ती सम्राटों का भी नहीं रहा। रहा हो तो बता दो। तीन अवसर्पिणी काल पूर्व के तीर्थंकरों के नाम ही बता दो। ज्यादा से ज्यादा वर्तमान या इसके पूर्व की चौबीसी बता देंगे, पर सभी क्रम से बता पायें यह कम संभव है। सुरेशजी कल कह रहे थे कि यदि सभा में नाम लें कि १२ व्रतधारी श्रावक कौन हैं, खड़े हो जायें, तो वे भी नहीं मिलेंगे। सतियों ने कहा-अभाव नहीं है। वस्तुतः नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है मेरा शासन इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा। उस समय बात चली थी कि मैं बनारस गया और हीरालाल की दुकान पर सोना लेने पहुंचा। वहाँ तीन-चार दुकानें थीं, हीरालाल के नाम की। पनवाड़ी से पूछा तो उसने बताया कि असली हीरालाल तो मर गया, केवल उसके नाम की दुकान रह गई है। इन्होंने बात घटित की कि प्रभु महावीर तो नहीं रहे, किन्तु असली के नाम से लोग दुकानें चला रहे हैं। लेकिन प्रामाणिकता नहीं रही है ऐसी बात नहीं है। मैं उसमें संशोधन चाहता हूँ और संशोधन है-भगवान महावीर ने कहा- मेरा शासन इक्कीस हजार वर्ष चलेगा, उसमें विच्छेद नहीं होगा। आज असली हीरालाल की दुकान

तो मौजूद है पर उसके साथ ही अन्य दुकानें भी मौजूद हैं जिससे उसकी पहचान कठिन हो गई है। लेकिन यह बात नहीं है कि प्रभु का शासन रहा ही नहीं है। भगवान ने कहा है तो चलेगा और चल रहा है, विच्छेद नहीं हुआ है। पहचान करनी है तो **"सावधान मनसा करी"** वाली स्थिति आवश्यक है, तब ही पहचान कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है-**"पण्णा समिक्खए धम्मं"** किन्तु आज समीक्षा की क्षमता है नहीं क्योंकि कसौटी में ही विकार आ गया है। तब धर्म की समीक्षा कैसे हो सकेगी ? कसौटी का पत्थर सही नहीं तो सोना घिसें तो भी पहचान नहीं होगी। कसौटी सही है तो खरे-खोटे की पहचान हो सकेगी। तब पहली आवश्यकता यह है कि कसौटी को सही करें। कसौटी होती है प्रज्ञा। इसलिए पहले प्रज्ञा को निर्मल-शुद्ध बनायें। प्रज्ञा शुद्ध हो गई तो असली-नकली की पहचान भी हो सकेगी, फिर चाहे कोई बोर्ड लगा ले, धोखा नहीं होगा। नाम तो बोर्ड में बहुत मिल जायेंगे। हम जानते हैं कि नकली नाम की कम्पनियाँ खुल जाती हैं जो किसी प्रसिद्ध कम्पनी का मार्का लगाकर माल बेच लेती हैं। वहाँ ५०० की चीज ६० रुपये में मिल जायेगी। मार्के वे ही रहते हैं, हम जानते हैं कि मार्के ही चलते हैं। पर यदि कसौटी सही है तो असली-नकली का परीक्षण आप कर सकेंगे। मन की, प्रज्ञा की, सावधानी से ही समीक्षा होगी। हनुमान को उत्तेजना देने वाले कई मिले, पर कर क्या सके ? कहा गया नाम नहीं लिया, उपहार नहीं दिया, पर वह जानता था जब राम घट में हैं तो अपना नाम अपने आप है। उपहार लेने वालों का नाम मिलता है क्या ? राम के और हनुमान के मन्दिर तो मिलते हैं और हनुमान चालीसा भी चलता है पर क्या सुग्रीव चालीसा है, चलता है क्या ?

कोई विचार करने लगे और चाहे के हमारा नाम भी चले, पर चाहने से चलता नहीं, बनाने से बनता नहीं। इसलिए आवश्यक है कि उपादान शुद्ध हो और सर्वथा रूप से अपने आपको जिनेश्वर

को समर्पित कर दो। बचाकर न रखो। स्वयं को उसके साथ एकमेक कर दिया तो फिर स्वयं का अस्तित्व सुरक्षित हो गया क्योंकि वह उसी का अस्तित्व हो गया था। तब अस्तित्व बना रहेगा। यह समझ लें कि यदि गुरु का अस्तित्व रहेगा, परमात्मा का रहेगा तो हम भी रहेंगे। वैसे ही राम रहेंगे तो हनुमान भी लुप्त नहीं होंगे। हम चाहते हैं कि तीर्थंकर की और गुरु की करुणा और वात्सल्य मिले तो स्वयं को उस का पात्र बनायें। पात्रता बनाने के लिए ही "थव थुइ मंगलं" की बात है। उससे दर्शन विशुद्ध बना लिया, जिनेश्वर के चरणों में सर्वतोभावेन समर्पण कर दिया तो पात्रता अर्जित होगी ही। फिर देखिये कोई टेन्शन नहीं, कोई फिक्र नहीं। एक अलग ही मस्ती होगी, जैसे हनुमान की मस्ती थी। वैसी मस्ती में आ जायें और मन-वचन-काया को व्यवस्थित कर अर्चा करें तो कहीं रस्सा-कस्सी नहीं होगी बल्कि अनुपम आनन्द की अनुभूति करेंगे। वहाँ जो भी मिलेगा, मिलता तभी है, जब मन-वचन-काया की पूरी समर्पणा हो, कोई भी कोना वंचित न रहे। वंचित रहा तो वह कच्चा रह जायेगा।

महाभारत युद्ध का प्रसंग है। दुर्योधन चाहता था कि मेरी विजय हो। विजय चाहता था, किसी ने सुझाव दिया कि विजय का रहस्य जानना चाहता है तो युधिष्ठिर के पास जा। वह गया युधिष्ठिर के पास और कहने लगा- "बताओ मेरी विजय कैसे हो सकती है ?" युधिष्ठिर ने कहा- "विजय तुम्हारे घर में बैठी है। यदि तुम्हारा पूरा शरीर तुम्हारी माता देख ले, वात्सल्य भाव से, तो तुम वज्रवत बन जाओगे।"

'मातृदेवो भव'- मां को देवतुल्य बताया है, मातृवात्सल्य तुम्हें वज्रवत बना देगा। दुर्योधन ने सोचा- यह तो मजे की बात है। ऐसा कर ही लेता हूँ। जाते हुए दुर्योधन को मार्ग में श्रीकृष्ण मिल गये। कृष्ण ने कहा- "दुर्योधन, यह क्या कर रहे हो ? इतने बड़े हो गए हो, एक तौलिया तो लपेट लो, मां की इतनी तो लाज रख लो। कृष्ण के कहने से दुर्योधन ने एक तौलिया लपेट लिया। माँ ने वात्सल्य से देखा, सारा शरीर वज्रमय बन गया पर जंघा ढंकी रहने से कमजोर

रह गई। भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं दुर्योधन की जंघा चूर करूँगा और उसने दूसरी जगह चोट नहीं की। दुर्योधन ने वही एक कोना कपड़े से ढक लिया था, स्वयं को पूर्ण समर्पित नहीं किया था। कपड़े की ओट से कोना बचाया तो वह कच्चा रह गया। वैसे ही मन-वचन शांत नहीं तो वहां जाले लग जायेंगे। कषायों का जाला लगा लिया तो वे कच्चे रह जायेंगे। दुर्योधन ने बचा कर रखा तो ढह गया। वह कोना अनावृत नहीं था, उस पर आवरण था। वैसे ही मन वचन काया में कपट का आवरण रहा तो फिर उनके कोने कच्चे रह जायेंगे। अतः यह आवश्यक है कि पूर्णतया मन-वचन-काया को शुद्ध बना लें, विकार की स्थिति उनमें न रहे। विकार रहा तो हम सुनने की स्थिति में भी नहीं रह पायेंगे। हम सुनते हैं तो सुने हुए को अमल में लायें तभी जीवन का आनंद प्राप्त होगा। अन्यथा बहुत सुना है पर सुनकर निकाल दिया, जैसे तूफान आया और चला गया। सुनने के साथ जीवन में ग्रहण करें तो रूपान्तरण घटित होगा। सुने हुए को जीवन से स्पर्श भी करायें। ऐसा संयोग बन जाए तो जीवन का उद्धार हो जायेगा।

□□

2. प्रज्ञा और वृत्ति-परिष्कार

अनादि काल से अज्ञान में, मोह में और विकारों में आत्मा भटकता रहा है। सघन अंधकार में कोई पथ प्राप्त नहीं हुआ, थोड़ा-प्रसंग तब बना जब तीर्थंकर देवों की देशना का स्वरूप उजागर हुआ और इस आत्मा ने मार्ग प्राप्त किया, परिणामस्वरूप अब तक जो उन्मार्ग की ओर गतिशील था वह आत्मा तीर्थंकर देवों के मार्ग पर आरूढ़ हुआ और आत्म साधना करता हुआ केवलालोक से स्वयं की आत्मा को आलोकित कर पाया। ऐसे प्रभु महावीर ने केवलालोक से जो बात भव्य आत्माओं के लिए कही वह अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा -

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।

इस प्रकार बात अज्ञान और मोह का विवर्जन की आती है। जब तक अज्ञान से ग्रस्त हैं, राग-द्वेष की अवस्था बनी हुई है तब-तक आत्म कल्याण संभव नहीं है।

कषाय मुक्ति किलरेव मुक्ति

जब तक कषाय और राग-द्वेष हैं तब तक मुक्ति नहीं, आत्मा मुक्त बन नहीं सकती। मुक्ति के लिए यह नहीं कहा गया है कि तुम्हारी पौशाक कैसी है ? शरीर कैसा चाहिए ? चौदह प्रकार के सिद्ध और पन्द्रह भेद भी कहे जाते हैं। स्त्री शरीर से भी सिद्ध हो सकते हैं, यदि पुरुष शरीर में हैं तो पुरुष शरीर से भी सिद्ध हो सकते हैं। एक युग था जब स्त्रियों को हीन दृष्टि से देखा जाता था। कहा जाता था 'स्त्री और शूद्र समान होते हैं, वे धर्म के अधिकारी नहीं हैं।' परन्तु भगवान् महावीर ने वैचारिक क्षेत्र में अनोखी क्रान्ति का शंखनाद किया। उन्होंने कहा कि जन्म अथवा योनि से कोई शूद्र नहीं होता। शूद्र विचारों से ही व्यक्ति शूद्र है। शूद्र का मूल रहा है

शूद्र में। शूद्र का तात्पर्य है ओछी बुद्धि वाला। एक पेड़ होता है जिसकी शाखा बहुत ऊँची चढ़ जाती है और एक की ऊँची नहीं चढ़ती, नीची रहती है जैसे एरंड़ का पौधा। उसकी शाखा ज्यादा ऊँची नहीं चढ़ती। जबकि पीपल, आम, नीम आदि बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं। शूद्र अर्थात् ओछा अथवा ऐसा व्यक्ति जिसके विचारों की धारा हीन हो तथा जिसका हृदय संकुचित हो। संकुचित का अर्थ व्यक्ति कई बार दूसरे रूप में भी ले लेता है, यह बात अलग है। शूद्र वृत्ति वाला व्यक्ति अलग होता है और मर्यादा में जीवन जीने वाला अलग। मर्यादा में जीना संकुचित दायरों में जीना है। कभी कोई सोच ले कि हमने त्याग किया तो हम संकुचित दायरे में आ गये, किसी रूप में संकुचित हुए पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शूद्र वृत्ति वाले हो गये। भगवान ने कहा है-'संकोच करा'। जो आवश्यकताएं हैं उनका संकोच करो, अपना फैलाव कम करो, पर वृत्ति शूद्र नहीं होनी चाहिए। शूद्र वृत्ति के लिए तो कहा है-'खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए।' शूद्र का साथ न करें, न ही उसके साथ हास्य-विनोद करें। उसके साथ चलना भी नहीं क्योंकि उसका साथ किया तो उसके दुर्गुणों का प्रभाव पड़ेगा क्योंकि गुणों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। उस पर हमारे सद्गुणों का प्रभाव पड़े और आप यह भी कह सकते हैं कि तब शूद्र वृत्ति के साथ ज्यादा रहें ताकि वह शूद्र वृत्ति का त्याग कर विशाल वृत्ति का परिचायक बन जाये। कहीं भी देखिये सद्गुणों का परहेज नहीं बताया गया है, दुर्गुणों का परहेज बताया गया है। कारण क्या है? कारण है जीव अनादि काल से दुर्गुणों का आदी होता है, दुर्गुणों की ओर उसका झुकाव होता है, परिणामस्वरूप वह उन्हें सहज ही स्वीकार कर लेता है जबकि सद्गुणों की ओर उसका झुकाव नहीं होता। सद्गुणों की तरफ स्वयं को बढ़ा पाना कठिन है। जब तक व्यक्ति सद्गुणों की तरफ नहीं बढ़ पाता आश्रव और दुर्गुण से स्वयं को जोड़े रखता है। इसीलिए प्रभु ने कहा है कि शूद्र वृत्ति वालों का साथ न करें। यह बात-प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र में कही है। शूद्र वृत्ति का एक उदाहरण देखें।

एक बार एक शूद्र वृत्ति वाला व्यक्ति जा रहा था। मार्ग तय हो रहा था। मार्ग में एक पंडित मिल गया उसने पूछा कहाँ जा रहे हो? उत्तर मिला :- मैं अमुक गाँव में जा रहा हूँ। पण्ड़ित ने कहाः- मैं भी वहीं जा रहा हूँ चलो अच्छा हुआ एक से दो भले। तुम मिल गये यह अच्छी बात है। मेरा भी साथ हो जायेगा। वे पैदल ही जा रहे थे एक स्थान पर वृक्षों पर फूल खिले हुए थे। शूद्र वृत्ति वाले ने कहा-देखो गुलाब के फूल कैसे खिले हैं ! पंड़ित ने कहा- ये गुलाव के फूल नहीं, पलाश के फूल हैं। गुलाब में खुशबू होती है, पलाश में नहीं। पलाश ऊपर से ही सुन्दर होता है पर उसके भीतर गंध नहीं होती। ऊपर से मन को आकर्षित कर ले पर सुगंध नहीं दे सकता। यदि जमीन पर गिरा तो वहां भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जबकि गुलाब यदि टहनी से टूटकर नीचे गिरे भी तो वहां की जमीन को भी अपनी सुवास से सुवासित कर देगा। शूद्र वृत्ति ने कहा- नहीं-नहीं ये तो गुलाब ही है। ब्राह्मण ने फिर कहा- अरे भाई तूने कभी पहले देखा ही नहीं होगा इसलिए पलाश को गुलाव कह रहा है। यह तो पलाश का फूल है। शूद्र वृत्ति वाले ने हाथ की लाठी ऊँची उठाई और कहने लगा-बोल किसका फूल है ? गुलाब का या पलाश का ? पंडित को ज्ञानीजनों की बात ध्यान में आ गयी। उन्होंने कहा है कि शूद्र वृत्ति वालों का साथ ना करें। उनका साथ थोड़ी देर के लिए अच्छा हो सकता है पर अन्ततोगत्वा हानि करने वाला ही होता है। जान बचानी थी इसलिए पंडित ने कह दिया-तुम कहते हो तो गुलाब ही सही। उसने इस प्रकार अपनी जान तो बचा ली परन्तु शूद्र बुद्धि वाले व्यक्ति के साथ के लिये पश्चाताप भी करने लगा। कहने का आशय है कि इस प्रकार की शूद्र वृत्ति वाला सोचता है कि मैंने जो मान लिया समझ लिया उसके आगे दुनियां है ही नहीं। कभी-कभी कूपमंडुक की बात आती है कुएँ का मेंढ़क सोचता है कि दुनियां इतनी ही है। वह बाहर निकले तो मालूम पड़े कि कुएँ के अलावा दुनियाँ बहुत बड़ी है पर वह विशालता को मानता ही नहीं और सोचता है मेरे भीतर ही विशालता भरी है। ऐसी वृत्ति में जीने वाले सोचते हैं कि वे जो मानते हैं वही सही है।

पूज्य गुरूदेव फरमाया करते हैं कि सौंठ की गाँठ लेकर कोई वैटे और सोचे मैं तो वड़ा व्यापारी हो गया तो समझ लेना चाहिये कि उसकी समझ सिर्फ अपने तक है। इसलिए कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति का साथ घातक होता है, अतः साथ परित्याज्य है। कभी-कभी विवाद ज्ञानीजनों में भी होता है। कहा भी गया है- "वादे वादे जायते तत्व ज्ञान" उनमें जो वाद होता है, होना चाहिए पर ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिसका रूप विवाद हो जाए। वाद ज्ञान बढ़ाने वाला है पर विवाद नहीं। वाद कब विवाद वन जाता है ? जब वृत्ति शूद्र वने। विवाद में तनाव और तनाव में संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है।

मेड़ता की घटना है-मालदेव नामक नरेश वहां के शासक थे। उनके प्रधान दीवान कल्याणमलजी थे और उनके अधीन रहने वाले थे सहस्त्रमलजी, वे भी दीवान थे पर वड़े दीवान के अधीन रहने वाले थे। दोनों परस्पर धर्म-ध्यान सामायिक और ज्ञानवृद्धि की चर्चा करने वाले थे। आज भले ज्ञानवृद्धि के नाम पर लोग वैटें किन्तु कभी-कभी वे ऐसा जहर उगलने लगते हैं कि वहाँ ज्ञानवृद्धि, स्वाध्याय जैसी सद्वृत्तियां तो गौण हो जाती है और शूद्रवत्ति हो जाती है मुख्य। पर वहां ऐसी वात नहीं थी। वहां एक वार ज्ञान का वाद चल रहा था, चलते-चलते दोनों के वीच मत-वैभिन्न उत्पन्न हो गया। कल्याणमलजी ने एक वात कही, सहस्त्रमलजी ने कहा- ऐसे नहीं, ऐसे है। कल्याणमलजी के मन में विचार आया कि मैं वड़ा हूँ, ये मेरी वात काटना चाहता है। और जहाँ वात की पकड़ हुई वहीं वाद, विवाद वन जाता है। विवाद वढ़ने पर वह उग्र वन गया। वे राजाओं के यहाँ रह रहे थे तो उनका वहाँ प्रभाव भी था। कल्याणमलजी इतने क्रुद्ध हो गये कि उन्होंने गांठ वांध ली कि जव तक मैं इनकी हत्या न कर दूँ, मैं साफा नहीं वांधूगां। पहले साफा वांधने का रिवाज था। उन्होंने साफा वांधना वन्द कर दिया। कथा लम्वी है मैं तो केवल मर्म की वात कहना चाहता हूँ कि ज्ञान का वाद कैसा होता है और शूद्रवृत्ति का विवाद कैसा होता है। उन्होंने

गांठ बांध ली थी। संयोग बना, साल-छः महीने बीते होंगे वहाँ संतों का चौमासा हुआ। कल्याणमलजी रोज व्याख्यान में आते, व्याख्यान सुनते पर मन में गांठ पड़ी हुई थी जो उसी प्रकार कस रही थी जैसे रस्सी में गांठ पड़ी हो और उस पर पानी ड़ालो तो वह और टाईट हो जाती है। स्थिति यह हो गई कि व्याख्यान में कोई प्रसंग आता तो वे उसे गांठ गीली करने में लगाते कि मुझ पर ही सारा विषय है। यह तो उनके भीतर का चोर ही बताता था कि यह मेरे पर है नहीं तो महाराज क्या सर्वज्ञ हो गये थे ? सर्वज्ञ होते तो बात अलग थी। महाराज को क्या मालूम कि उनके भीतर राग-द्वेष की गांठ पड़ी हुई थी। कई बार ऐसा हो भी जाता है।

आचार्य देव का चातुर्मास १६-२० वर्ष पहले भीनासर-गंगाशहर में हुआ। जिस दिन अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ का अधिवेशन था और आचार्य देव का चादर प्रदान दिवस का प्रसंग था उस दिन आचार्य देव ने चतुर्विध संघ की सेवा, व्यक्ति किस रूप में करे उसकी कुछ व्याख्या आगमिक धरातल से प्रस्तुत कर दी। परिणाम देखिये- शाम को आचार्य देव के पास संघ के नेता पहुँचे और कहने लगे-"गुरूदेव! हमें प्रत्याख्यान करा दीजिए हम कोई पद नहीं लेंगे, चुनाव नहीं लड़ेंगे।" गुरूदेव ने पूछा-"बात क्या है?" वे कहने लगे कि आज का तो सारा व्याख्यान मेरे पर ही था। दूसरे ने कहा मेरे पर था, तीसरे ने भी कहा मेरे पर था। आचार्य देव ने कहा-आप स्वयं समझदार हैं। कभी-कभी हमारी जो वृत्ति होती है उसके प्रतिकूल भी बात हो जाती है। अनुकूल होती है तब तो हमें बहुत अच्छा लगता है पर प्रतिकूल होती है तो कहते हैं व्याख्यान मेरे खिलाफ था। पर ऐसा होता नहीं। संत कोई भी बात व्यक्ति विशेष की आलोचना करने के लिये नहीं कहते पर जैसे जहाँ गड्ढ़ा होता है, वहाँ पानी भर जाता है, वैसे ही हमारे भीतर जैसी वृत्ति होती है वैसा ही परिणमन होता है। इसलिए कहा गया है-शूद्रवृत्ति वाले का साथ ना करें। उनका साथ निभ नहीं पाता यदि साथ करता है तो इज्जत, शरीर या धन गंवाता है, फिर भी पार नहीं पड़ता है।

सोचिये कोई नागा हो और एक सज्जन हो तो दोनों का साथ कैसे निभेगा? सज्जन सोचेगा मेरी इज्जत कैसे बचे, इज्जत बचाने के लिए घर में घुस जायेगा और नागा सोचेगा कि वह मुझ से डर कर घुस गया है। व्यक्ति अपनी-अपनी दृष्टि से सोचता है।

कल्याणमलजी कोई भी बात आती, तो सोचते यह संकेत मेरे प्रति ही है। उन्होंने गांठ जो बांध रखी थी। संत तो कहेंगे-वैरानुबंधी वैर मत बांधो, राग-द्वेष मत बढ़ाओ और यदि कोई कहे कि राग-द्वेष बढ़ाओ, तो वस्तुतः वह साधु जीवन में है नहीं, श्रावक भी ऐसी बात नहीं कहते। शास्त्र में कहा गया है- श्रमण-माहन। श्रावक भी कहते हैं कि ऐसा मत कर। श्रावक भी राग द्वेष बढ़ाने की नहीं किन्तु घटाने की बात कहते हैं। यदि वे भी बढ़ाने की बात करें तो उसका श्रावकत्व ही निरर्थक हो जायेगा। संतों के लिए जहां कहा गया है कि १५ दिन में यदि खमतखमना नहीं करता है, यूं तो वह रोज कर ले तो भी बुरा नहीं, किसी से कुछ हो गया हो तो आहार से पूर्व ही कर ले, पर कदाचित् न कर पाये तो १५ दिन का उल्लंघन नहीं करे अन्यथा साधुत्व टिक नहीं पायेगा। यदि चौमासे में खमत खामना न करे तो श्रावकत्व नहीं रह पायेगा और यदि संवत्सरी निकल जाय तो सम्यक्दृष्टि-भाव का टोटा पड़ने का प्रसंग बन सकता है। और वह मार्गी बनकर भी उन्मार्गी बन जाता है।

मैं कल्याणमलजी की बात कह रहा था- चातुर्मास में श्रावण सुदी पंचमी या कुछ दिनों पहले संतों ने पूछा कि-आप इतने धर्मनिष्ट श्रावक हैं पर आप साफा नहीं बांधते, यह तो अच्छी बात नहीं है। हम जानते हैं कि यह प्रथा रही है कि गृहस्थावस्था में घर से बाहर जाते हैं तो टोपी या पगड़ी अवश्य लगाते हैं। बच्चों की बात तो जाने दीजिये किन्तु यदि बड़े भी खुल्ले माथे चले जांय तो इसे अशुभ माना जाता है। किसी की गमी हो जाय या श्मशान में जाना है तो खुल्ले माथे जाते हैं, अन्यथा नहीं। यह परंपरा रही है। आज तो कितने साफे वाले मिलेंगे? यहां तो फिर भी चार जने हैं अन्य स्थानों पर तो मिलने ही मुश्किल हैं। संतों ने कहा-"आप इतने

समझदार हैं फिर बिना साफे कैसे?" उन्होंने कहा-"मेरा अभिग्रह है।" आप लोग विचार कीजिये कि क्या यह अभिग्रह था, यह अभिग्रह नहीं, राग-द्वेष की गांठ थी, दुराग्रह था। अभिग्रह धर्म-ध्यान का, आत्मभाव का पोषक है, वह होता है-तप। यह गांठ तप नहीं थी। मारने के बाद साफा बांधूंगा यह अभिग्रह नहीं था यह तो उस गांठ को, उस दुर्भाव को निगूढ़ और गहरा बनाना था। और वे थे कि उसे छोड़ नहीं रहे थे। इसे निदान भी नहीं कह सकते क्योंकि निदान होता है सम्पूर्ण तप-त्याग को बेचना। उनमें सरल भाव बना या जो कुछ भी था उन्होंने कह दिया-"जब तक मैं सहस्त्रमल को मार न दूं, साफा नहीं बांधूंगा। यह क्या बात?" "वह अपने आप को तीसमारखाँ समझता है! होता कौन है, वह!" संतों ने समझ लिया कि आग में झुलस रहा था। नीचे आग सुलग रही हो तो तवा गरम होगा, उस पर दो-चार छींटों से क्या होगा? श्रावण सुदी पंचमी के दिन सहस्त्रमलजी ने सोचा कि आज मासखमण का घर है। मासखमण के घर का मतलब है कि यदि उस दिन उपवास प्रारंभ करे तो भादवा सुदी पंचमी को एक महीने का तप होता है। उन्होंने सोचा, आज धर्म जागरण का भी प्रसंग होता है, आज के दिन संत भी ध्यान चिन्तन करते हैं तो उर्वरा का प्रसंग रहता है। अतः मैं भी वहीं चलूँ तो महाराज से धर्म-ध्यान सुनने को मिलेगा। वहां बैठूंगा तो मुझे भी ठंडी हवा लगेगी। तालाब में शीतलता है तो उसके निकट आने वाले को भी ठंडक मिलती है। मेरी भी नींद खुल गई है तो चलूं वहीं। वे पहुँचे संतों के कमरे में, वंदन किया वहां अपना आसन जमाया और ध्यान में बैठ गये। संत भी ध्यान-साधना में लगे थे। ध्यान पूर्ण हुआ तो पूछा-"कौन?" उत्तर मिला-"मैं हूं गुरूदेव!" महाराज साहबजी को आश्चर्य हुआ बोले-"सहस्त्रमल जी! आप यह क्या कर रहे हो? अर्ध रात्रि में यहां पहुँचे! यह आपके लिए ठीक नहीं है। आपके सिर पर नंगी तलवार लटक रही है। ऐसी स्थिति में आपको रात्रि में अकेले में नहीं निकलना चाहिए था।" संत भद्रिक स्वभावी थे या जो कुछ भी हो, उन्होंने कल्याणमलजी की बात प्रकट कर दी। संयोग से कल्याणमलजी भी पौषध में थे और जाग रहे थे।

उन्होंने यह बात सुन ली। विचार करने लगे-महाराज ऐसे हैं, इधर की बात उधर करते हैं। प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने धर्म स्थान में आना छोड़ दिया ऐसे महाराज के यहां क्या जाना। हालांकि संत ने राग-द्वेष से नहीं कहा था किन्तु वे चाहते थे कि हिंसा न हो, पंचेन्द्रिय प्राणी की मृत्यु न हो जाये। कल्याणमलजी घर में ही धर्म-ध्यान करने लगे। लोगों ने कहा-आप व्याख्यान में क्यों नहीं आते हैं ? कुछ बातें उन्होंने कही कि ऐसे संतों के पास क्या जाना। कल्याणमलजी से कुछ लोगों ने कहा-यह तो आप अग्नि पर प्रहार करने का कार्य कर रहे हैं। अग्नि पर प्रहार करने से अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ेगा, प्रहार करने वाले का ही नुक्सान होगा। वैसे भी गुरू भगवंतों का इस प्रकार अविनय, अवज्ञा, आशातना करना आपके लिए ही दुःखदायक होगा। कोई सोचे पर्वत से माथा टकराऊँ, पर्वत को तोड़कर रहूँगा, तो उसके मस्तिष्क पर ही चोट आयेगी। जहर पीकर कोई अमर नहीं बन सकता। वैसे ही गुरू की आशातना करने वाला मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा शिष्य ऊपर से कितना ही धर्म-ध्यान कर ले पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। थोड़ी सी आशातना के भाव बाहुबली में रह गये थे कि मैं छोटों को नमन कैसे करूँ? १२ माह खड़े रहे पर गरज क्या सरी? जब गाँठ खुली तब कदम बढ़ाये। विचार किया कि मैं यह क्या सोचने लगा था? और उसी क्षण केवल ज्ञान हो गया।

यहाँ भी कुछ ऐसा ही हुआ। जो कल्याणमलजी के सुहृदय थे, आत्मीय थे, वे कहने लगे भाई कल्याणमलजी ऐसा क्यों बोलते हो, संत ने भद्रिक स्वभाव से कह दिया होगा। बात पकड़नी नहीं चाहिये। पर उन्होंने तो गांठ बांध ली थी कि मुझे संतों के वहां नहीं जाना। उनकी जैसी मानसिकता वाले कुछ ऐसे और लोग भी थे जिन्होंने देखा यह तो मौका मिला है अभी तीर निशाने पर है, अभी तीर मार लिया तो बाजी जीत सकते हैं। वे भड़काने लगे कि आप तो इतना धर्म-ध्यान करते हैं फिर भी संतों ने आपका अपमान कर दिया। ऐसे संतों के पास नहीं जाना चाहिये। अन्य प्रकार की बातें

भी सामने आई, पर वे कान के कच्चे नहीं थे। उन्होंने कहा-भाई ऐसी बातें मत करो। संतों के प्रति कोई विचार बन गया इतने मात्र से मैं धर्म से विमुख नहीं हो सकता। धर्म मेरे प्राण तुल्य है। वे बातों मे नहीं आये क्योंकि दीवान थे तो चतुर तो थे ही। समझने-परखने की बुद्धि भी उनमें थी। कई भाई धर्म तो करते हैं पर कान के इतने कच्चे होते हैं कि जो भी कहा जाता है उसमें हाँ-हाँ कर देते हैं। कभी इधर तो कभी उधर जैसे भरतपुरी लोटा, जिसके पेंदा नहीं होता, कभी इधर लुढ़कता है तो कभी उधर। कई लोगों ने तो इसलिये कि यदि दीवान हमारी तरफ हो गये तो हमारा सम्मान भी बढ़ जायेगा। वे बहकावे में तो नहीं आये पर संतों के पास भी नहीं जाते थे घर पर ही आराधना, पौषध, सामायिक करते। परन्तु क्या ऐसी सामायिक काम आती है? जिसने आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा गर्हा नहीं की तो वह आराधक नहीं, विराधक है। कितने ही वर्षों की साधना कर लें पर साधना फलवती नहीं होती। आराधना-विराधना का गहरा सम्बन्ध है। यदि मन में गांठ लेकर चले, ओछी वृत्ति है, तो आराधना नहीं होगी। ऐसा करने वाला व्यक्ति विराधक हो जाता है।

कल्याणमलजी की दिनचर्या वैसी ही चलती रही और उधर पर्यूषण पर्व आ गये। एक दिन निकला, दो दिन निकले, करते-करते सात दिन निकल गये, संतों ने सोचा आज आयेंगे, आज आयेंगे, पर वे नहीं आये। संवत्सरी का दिन भी आ गया, संतों ने निगाह डाली पर वे व्याख्यान में दृष्टिगत नहीं हुए तो सोचा दोपहर आलोचना में आ जाएंगे, पर वे दोपहर में भी नहीं आये। सोचा प्रतिक्रमण में आ जाएंगे, पर प्रतिक्रमण का समय निकट आ रहा था, वे आये नहीं। संत ने उठाई झोली-पात्री और बाहर निकले। उनके घर की ओर पहुँच गये। बच्चों ने देखा तो दौड़कर माँ से कहने लगे म.सा. गोचरी पधारे हैं! म.सा. गोचरी पधारे हैं। माँ ने कहा गोचरी तो प्रश्न ही नहीं आज संवत्सरी है। बच्चों ने कहा-हाथ में झोली-पात्री है। यह भी भ्रांति हो जाती है। संत खाली हाथ नहीं जाते इसलिए उन्होंने झोली ले ली थी पर इसका यह अर्थ नहीं था

कि वे गोचरी ही जा रहे थे। माता बाहर आई। उन्होंने कल्याणमलजी की पत्नी से पूछा- श्रावकजी कहां हैं, दीवानजी कहां हैं? दीवानजी ने बात सुनी तो भीतर से द्वार बंद कर लिया-"म्हारे तो महाराज रो मुंडो ही नहीं देखणो।" दीवानजी की पत्नी ने कहा पधारो, वे पौषध कर रहे हैं। पत्नी व बच्चों ने द्वार बजाया पर अंदर से चूं-चपकार भी नहीं सुनाई दी। क्या करना ऐसे समय में? पर संत का दिल द्रवित हो गया कि मेरे कारण इन्होंने धर्म-स्थान छोड़ दिया। संत ने बात सुन ली थी। कल्याणमलजी ने द्वार नहीं खोला। खिड़की खुली थी, बच्चे अंदर गये और द्वार खोलने लगे। वे मना करते रहे पर बच्चों ने द्वार खोल ही दिया। वे एक किनारे मुँह फेर कर बैठ गये। हाथ भी नहीं जोड़े, खड़े भी नहीं हुए।

आज ऐसी बात हो जाय तो श्रावक क्या कहेंगे-आखिर तो महाराज ने आवणो पड़ियो। और महाराज आ गये तो क्या आपका स्तर ऊँचा हो जायेगा? गुरू सामने आ जाय तो आपका नाम इतिहास में अमर हो जायेगा? ऐसी गांठें गर्त में ले जाने वाली होती हैं पर कौन समझे? इनमें इतना रस आता है जितना ज्ञान दर्शन चारित्र में नहीं आता। इन गांठों का रस छूटे तभी व्यक्ति ज्ञान दर्शन चारित्र की रसायन ले पाये। लेने का प्रयास भी करे तो भी ले नहीं सकता क्योंकि पहले से ही कब्ज है, मल बंध गया है और आंतें मल से जकड़ी हुई है। शरीर में यदि शक्ति नहीं रही, व्यक्ति निरोग नहीं बना रहा, दुबला होता रहा तो कारण है मल का बंधा होना। ऐसी अवस्था में यदि रस डालें भी तो जैसे रस्सी की गांठ पर पानी पड़ने से वह अधिक सख्त हो जाती है, वैसे ही यदि मल निकलेगा नहीं तो वह सारा रस गांठ पी लेगी और सारा रस पीकर मल और सख्त होगा। ऐसी स्थिति में बीमारी दूर होगी कहां से? फिर चाहे वैद्य कितना ही पुष्ट करने वाला रसायन क्यों न दे दे पर असर नहीं होगा। वैसे ही यह गांठ है। इस गांठ के रहते भले ज्ञान की बातें सुनें, स्वाध्याय तप कर लें पर कोई लाभ होने वाला नहीं है। रसायन का सारा रस गांठ सोख लेगी। कैसे सोख लेगी, मैं पहले ही

कह गया हूँ जैसे कल्याणमलजी कहने लगे थे-"यह कथन मेरे प्रति ही है, यह कथन मेरे प्रति ही है।" यदि सही तरीके से बात समझें तो जीवन का विकास हो सकता है, परन्तु यदि उस रूप में न लें तो कब्जीयत की गांठ की तरह, वह आत्मा को कमजोर बना सकती है।

कल्याणमलजी दीवार की तरफ मुँह करके स्वाध्याय करने लगे। कितनी हास्यास्पद स्थिति थी। और यह क्या स्वाध्याय का कोई रूप था? ओछी मानसिकता के कारण यह धर्म-ध्यान मात्र पाखण्ड बन कर रह गया था। ऐसा धर्म-ध्यान, तप-त्याग, आत्म कल्याणकारी नहीं हो सकता। माता-पुत्र देख रहे थे पर दीवान के सामने बोलते कैसे? महाराज ने कहना प्रारंभ किया-"देवानुप्रिय! कल्याणमलजी, मेरे भद्र स्वभाव के कारण या इस कारण कि मैं पेट में बात रख नहीं पाया और आपको पीड़ा हुई पर इसमें मेरी कोई दुर्भावना नहीं थी। इस भय से कि कहीं पंचेन्द्रिय का वध न हो जाये आपकी बात मैंने प्रकट कर दी थी। आपके मन को मेरे इस व्यवहार से चोट पहुँची इस कारण मैं प्रतिक्रमण से पूर्व अपनी आत्मा का शुद्धिकरण करना चाहता हूँ। मेरी बात से आपके मन में किसी प्रकार की ग्रंथि बनी हो तो मैं निःशल्य होना चाहता हूँ, इसलिए मैं आपसे खमत खामणा करता हूँ।" संत बोले जा रहे थे-एक बार कहा, दो बार कहा, तीन बार कहा। महाराज ने कहा-देखो जो होना है वह तो अनहोना हो नहीं सकता। होना था जो हो गया, वह तो अनहोना नहीं किया जा सकता। संत के ऐसे स्नेहपूर्ण स्पष्ट कथन का प्रभाव पड़ना ही था। कहते ही हैं-

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निषान।।

जब बार-बार के सम्पर्क से पत्थर भी घिस जाता है तो मनुष्य का हृदय परिवर्तित क्यों नहीं होता? आखिर कल्याणमलजी का भी भावनापूर्ण हृदय था। और चूँकि ऐसा हृदय था तो वहां झंकार भी उठनी थी। कल्याणमलजी उठे, माथा नमाया और रोते-रोते संत के

चरणों का प्रक्षालन करने लगे-गुरूदेव ! मैं भूल गया था, ना जाने कैसी गांठें बन गई थीं। मैं अशान्त था, टेन्शन में था क्योंकि जब गांठ बनती है तो पूरा चिन्तन उसी के पोषण में लग जाता है और जैसे रस्सी पर एक गांठ पर दूसरी, तीसरी गांठें लगती जाती है फिर उन्हें जैसे कील ठोक कर मजबूत कर दिया जाता है वैसे ही वे गांठें जुड़ कर इतनी संगीन बन जाती है कि मूल गांठ का पता ही नहीं चलता, ऊपर की गांठ खोलने चलें तो वह खुलती नहीं। आखिर कैंची का सहारा लेना पड़ता है। मेरे हृदय में भी दुर्भावना की ऐसी ही मजबूत गांठें पड़ गई थी। यहाँ भी संकल्प की कैंची से गांठ के टुकड़े-टुकड़े हो गए। वे संतों के चरणों में झुके पश्चाताप करते रहे, फिर उठे और संत के साथ ही धर्म स्थान पर पहुँचे। पहुँचते ही पहले सहस्त्रमलजी के चरणों में झुक गये। सहस्त्रमलजी ने बीच में ही रोका-"आप उत्कृष्ट श्रावक हैं। यह क्या कर रहे हैं?" कल्याणमलजी बोले-"रहने दो मैंने भूल की, मैंने इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था। उसने मुझे डूबा दिया। मैं समझ नहीं पाया। बड़ेपन का भूत मुझ पर सवार हो गया था। मुझे माफ कर दो। मैंने दुर्विचार किया, तुम्हें मारने का संकल्प कर लिया। मौका देखता रहा, यह तो मुझे मौका मिला नहीं, नहीं तो मैं मार चुका होता। ऊपर से नहीं मारा, पर भावों से तो मार ही चुका हूँ।"

बंधुओं ! यह होता है ज्ञानियों का वाद। हालांकि गांठ गहरी थी पर ज्ञान होते ही ढ़ीली पड़ गई। कहा भी है-

आम झुके, इमली झुके, झुके तो दाडम दाख ।
एरण बिचारा क्या झुके, जिसकी ओछी साख ।।

इसलिये ध्यान रखें कि ओछी साख, क्षुद्र वृत्ति वाले से विवाद नहीं करें क्योंकि उससे जीत नहीं सकते। ज्यादा किया तो वे लट्ठ बतायेंगे। ज्ञानियों का वाद भिन्न होता है। चाहे कल्याणमल ने मारने की बात सोच ली हो पर संतों का मार्गदर्शन मिला तो सम्भल गये। वैसे संतों का क्या बिगड़ता था? वे भी सोच सकते थे- नहीं आवे

तो अपने को क्या करना। क्या एक-एक को मनाते रहेंगे? परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा, क्योंकि उन्हें तो अपनी आत्मा को देखना था। दूसरों से क्या मतलब ? बाहर देखते-देखते तो बहुत समय बीत गया था-

पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ।
हम तो कबहुं न निज घर आये ।।

दूसरी-दूसरी जगह तो अनादि काल से घूमते रहे हैं, अब भी बाहर घूमते रहे तो घूमते ही रह जायेंगे। परन्तु सब कुछ अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है। यदि घूमना ही है तो घूम लो। भगवान ने कहा है- अहा सुहं। तुम तुम्हारी सोचो।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।

सुन लो, फिर जो श्रेयस्कर लगे उस पर आचरण करो। भगवान ने निर्णय व्यक्ति पर ही छोड़ दिया है। स्वयं की प्रज्ञा से निर्णय करो। पर यह नहीं कि लुढ़कते रहो, प्रज्ञा कभी इधर तो कभी उधर। फिर न तो इधर के रहोगे न उधर के-

वाया विद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।

जिस प्रकार हड नामक वनस्पति हवा के वेग से लड़खड़ा कर समुद्र में गिर जाती है, वैसे ही अस्थिर आत्मा वालों का पतन भी निश्चित है। एक बार जिसकी आत्मा निज घर में प्रविष्ट हो जाय वह फिर दूसरे घर में प्रवेश नहीं करेगा। जब तक निजगृह में प्रवेश नहीं करेगा तब तक दुनिया के रंगमंच पर ही उसकी दृष्टि पड़ती रहेगी। दुनिया की टी.वी. देखेंगे पर स्वयं के अंतर की टी.वी. नहीं देख पायेंगे। इसलिये स्वयं की टी.वी. ऑन कर लो फिर अंतर के सीरियल को बैठकर देखो। रोज देखना है तो रोज, नहीं तो सुबह-शाम देखो। नहीं तो १५ दिन में तो देखो ही कि वहां क्या हो रहा है? कौन सा नया पिक्चर आया है? कभी पिक्चर हॉल में नया

पिक्चर आ जाये और मालूम पड़े कि सात दिन ही चलेगा और एक-एक करके ६ दिन निकल जायें और सातवां दिन भी आ जाय तो मन में आयेगा कि आज तो चाहे दुकान बंद करनी पड़े पर पिक्चर तो देखनी ही है। वहां उसके लिए तो इतनी तड़फन है पर अंतर की पिक्चर के लिये ...? कभी यह भी सोचा कि यह पखवाड़ा निकल जायेगा इसलिए देख तो लूं ? सफाई तो कर लूं होली दीवाली आती है तो बहनें घर की सफाई करती हैं। बर्तन गंदे हैं तो मांजती हैं कि दिवाली है तो बर्तन मांज लूं। पर आत्मा के बर्तन कब मांजोगे? यह तन चला जायेगा फिर पुनः-पुनः नहीं आने वाला है। यह अवसर मिला है तो अपना टी.वी. ऑन करके देख लो। आलोचना, प्रतिक्रमण करके वह रील कट कर दो। जीवन परिवर्तित कर लिया तो यह अवसर सार्थक हो जायेगा। टाईम तो निकलना ही है। दीये का तेल तो जलना ही है। उस प्रकाश में चाहे ताशपत्ती खेल लो, चाहे पुस्तक पढ़ लो। जो जिस कार्य के लिये जलाना चाहे, जलाये। तेल तो चुकाना ही है, कोई धर्म-ध्यान में चुका सकता है तो कोई अन्य कार्यों में। तेल जलाना ही है, सही तरीके से उपयोग कर लें तो वह सार्थक हो जायेगा। तेल तो जलेगा, चाहे उपयोग में लें या ना लें। तब क्यों न उसका जलना सार्थक कर लें। क्यों न वह माध्यम बने, अपने स्वयं के जीवन को आलोकित करने का? जीवन बहुमूल्य है, वह तो अंधकार में पड़ा रहे और दीया जलता रहे तो उस जीवन की क्या सार्थकता रही। उस जीवन को प्रज्ञा के प्रकाश से प्रकाशमान करें तो दोनों की ही सार्थकता और उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

□□

3. सत्य की अनुभूति का आनंद

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए....।

अज्ञान और मोह के पटल अनेक रूपों में आत्मा पर
हुए हैं। इनकी अनेक प्रकार की परतें हैं जो भिन्न-भिन्न आक
तथा भिन्न-भिन्न रंगों की हैं। उनके इतने प्रकार बन गए हैं
सहसा व्यक्ति उन परतों को जान नहीं पाता और समझ लेता है
वे उसकी आत्म-साधना में सहायक हैं। ऐसी परते जिन अनेक
से रंजित हैं वे चाहे राग-द्वेष के हों, चाहे अहं-ईर्ष्या के हों, चाहे
-काम के हों, व्यक्ति को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। इस त
जो अनेक प्रकार के भाव बनते हैं वे अज्ञान और विकार ज
होते है। मोह व अज्ञान के बिना इनका अवस्थान रह भी
सकता। अज्ञान है तो मोह की परत भी रहती है। मोह और अ
एक नहीं है। मोह लंबे समय तक चल सकता है, पर अज्ञान
आंखों के सामने फैला ऐसा पर्दा है जिसके पार कुछ दिखाई
देता। तेली के बैल जब घाणी में चलते हैं तो उनकी आंखों के सा
कटोरी बांध दी जाती है। परिणामस्वरूप कोई बाह्य दृश्य उन
आंखों के सामने प्रस्तुत नहीं हो सकता, वैसे ही अज्ञान है।
हमारी आत्मा के भीतर के प्रकाश को प्रकट ही नहीं होने देता।
मोह पैदा तो करने देता है पर अनेक प्रकार की किरणें भी मि
देता है। सूर्य की किरणों में अनेक रंग होते हैं, जिस के कारण
रंग को पहचानना कठिन हो जाता है। वर्षा के बाद आकाश में
बार इन्द्र धनुष मंड़ता है, उसमें अनेक रंग होते हैं। वैसे ही
ज्ञान को पैदा तो होने देता है, पर अनेक प्रकार से स्वभाव में मि
भी देता है। इस स्थिति में सुख अथवा संतोष कैसे प्राप्त हो सकता

शास्त्रों में कहा गया है-'णाणस्स सव्वस्स पगासणाए' ज्ञ
का प्रकाश हो, इससे ही 'एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं' एक

सुख-रूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है। नहीं तो एकांत सुख की अवस्था प्राप्त होनी कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, परन्तु सुख भौतिक पदार्थों में मिल नहीं सकता। वस्तुतः उनमें सुख है ही नहीं, भले ही थोड़ी देर के लिए उसकी अनुभूति वह कर ले। कभी गर्मी लग रही हो और ठंडी हवा मिल जाय तो लगता है आनंद आ रहा है। पर यह सुख नहीं है, भले ही थोड़ी देर के लिये साता अनुभव हो रही हो। कभी ठंड का समय हो और शीत लहर चल रही हो तो वहां उसी ठंडक में असाता की अनुभूति होगी, सुख की नहीं। इस प्रकार जो बदलता रहता है वह सुख हो ही नहीं सकता। सुख तो आत्मा के साथ संयोजित होता है जो कभी दुःख में परिणत नहीं होता। सुख है वह आत्मा में ही होता है इसीलिए कहा गया है-

'एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं।'

जो एकांत सुख मोक्ष का है वह अखंडित है। उसकी खंडना नहीं होने वाली है। वह आत्मा को मोक्ष में प्राप्त होता है। यदि दार्शनिक दृष्टि से विवेचन करें तो कहना होगा कि प्रभु ने इस गाथा में मुक्ति का स्वरूप प्रकट कर दिया है। वैशेषिक दर्शन मानता है कि मोक्ष में सुख-दुःख नहीं रहता। बौद्ध मानते हैं कि वहां केवल शून्यता है। अलग-अलग दर्शनों की अलग-अलग मान्यताएँ तो हैं पर उनका भी यहां खंडन होता है। सत्य तो यह है कि अभाव जैसी कोई चीज नहीं है। वहां पर सद्भूत पदार्थ उपस्थित हैं। कभी-कभी कह देते हैं कि वहां अभाव हो गया है। अनेक दर्शन अभाव को भी स्वीकार करते हैं, पर जैन सिद्धान्त अभाव की भिन्न-भिन्न स्थितियों को स्वीकार करता है। वह मानता है कि अलग-अलग प्रकार का अभाव है पर सर्वथा अभाव नहीं है। एक-दूसरे के संदर्भ में अभाव होता है। जीव में अजीव का अभाव है, अजीव में जीव का अभाव है, पर जीव सर्वथा लुप्त हो जाये या अजीव सर्वथा लुप्त हो जाये, ऐसा अभाव जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। कुछ दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि जीव मोक्ष में जाता है तो वहां सारे गुणों का अभाव हो जाता है, लेकिन प्रभु महावीर कहते हैं कि सर्वथा अभाव नहीं है, वहां ज्ञान रहता है जो आत्मा के भाव प्राण के रूप में है। वह उसके

हटता नहीं, उसमें ही रहता है। उस एकांत सुख को कैसे प्राप्त करें?

आचारांग सूत्र में कहा गया है- **"सच्चं समभिजाणइ।"**

सत्य को जान लो तो दुःख से मुक्ति हो जायेगी। कैसे जाने? सत्य क्या है ? कभी हम सोच लेते हैं कि जो भाषा रूप में प्रयोग कर रहे हैं वह सत्य है। विचार करें वस्तुतः वह सत्य है क्या? सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है-**'तं सच्चं खु भगवं'** अर्थात् सत्य भगवान् है। सत्य भगवान् है तो भगवान् को प्राप्त कैसे करें? क्या जैनियों ने भी ईश्वर की कल्पना की है, जैसा कि वैदिकों ने की है? जिन्होंने ईश्वर का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है ? जैन तो कहते हैं- **"अप्पा सो परमप्पा"**। आत्मा में ही वह शक्ति है और यदि उस शक्ति का जागरण हो जाये तो वह परमात्मा बन सकती है। आत्मा ही परमात्मा बनती है तो अलग से ईश्वर स्वीकार करने की क्या आवश्यकता ? पर यहां एक ओर तो कहा गया **"तं सच्चं खु भगवं"** सत्य भगवान है और दूसरी ओर कहा ईश्वर की वैसी अलग कोई सत्ता नहीं है। ऐसा विवाद यदि बन जाता है तो वह तीर्थंकर या आप्त की वाणी नहीं हो सकती। तीर्थंकर साक्षात् दृष्टा होते हैं, हस्तामलकवत् देखते हैं तो वे जो भी प्रतिपादित करते हैं उसमें विवाद की स्थिति नहीं रह सकती। यदि रह जाय तो उनकी सर्वज्ञता संदिग्ध हो सकती है। उनकी सर्वज्ञता तभी प्रमाणित होती है जब उनके किसी भी कथन में विसंवाद नहीं रहे।

'अप्पा सो परमप्पा' यदि यह भी उनका कथन है तो **'तं सच्चं खु भगवं'** और **'सच्चं समभिजाणइ'** भी उनकी ही वाणी है। सत्य को जानने का मतलब है कि सत्य का भी अलग अस्तित्व है। महात्मा गांधी के पास एक वहिन पहुँची और कहने लगी-महात्माजी! आप बड़े विचारक हैं, स्पष्ट वक्ता हैं, मैं बड़ी उलझन में रहती हूँ, निर्णय नहीं कर पाती कि सत्य क्या है ? वतलाइये मैं सत्य को कैसे जानूं? उसे कैसे प्राप्त करूं ? गांधीजी ने कहा-तू सत्य को कभी भी नहीं जान सकती, न ही सत्य को प्राप्त कर पाएगी। गांधीजी से ऐसा दो टूक उत्तर सुनकर महिला हक्की-वक्की रह गई। फिर साहस वटोर कर उसने अपनी डायरी निकाली और उनके सामने रखते हुए

बोली- आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिये। महात्माजी ने उस पर एक वाक्य अंकित कर दिया-"सत्य अन्यत्र नहीं स्वयं के हृदय में ही प्रकट होता है और वहीं से उसे प्राप्त किया जा सकता है।" तब सोचिये कि सत्य कहां है ? अन्दर या बाहर ? बाहर नहीं, भीतर है, पर हम उसकी पहचान कर नहीं पा रहे हैं। यदि पहचान हो जाय, उस पर प्रगाढ़ निष्ठा या आस्था बन जाय तो फिर सत्य को ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तब हमें कोई सत्य से डिगा भी नहीं सकेगा, न हमें विचलित कर सकेगा। पर जब तक हम सत्य को जान नहीं लेते, केवल बौद्धिक आधार पर ढूँढते रहते हैं या शब्दों के माध्यम से ही उसे समझना चाहते हैं तब-तक सत्य को प्राप्त करना तो दूर, उसकी परिकल्पना भी नहीं कर सकते।

एक श्रावक व्यापार में प्रवृत्त था। व्यापार से निवृत्त होने के पश्चात् धार्मिक क्रिया हेतु एक स्वधर्मी बंधु के यहां पहुंचा। जब वह धार्मिक क्रिया से निवृत्त हो चुका तब गृहस्थ श्रावक ने विचार किया- यदि ये आये हैं तो मुझे स्वधर्मी सेवा का लाभ भी लेना चाहिए। उससे वंचित नहीं रहना चाहिए। मेरे पारिवारिक जन तो फिर भी आ जायेंगे पर स्वधर्मी का आना कब होता है। यह तो मेरे सौभाग्य का क्षण है कि ये भाई पधारे हैं। वह आग्रह करने लगा कि आप मेरे घर भोजन करें, बिना भोजन ग्रहण किये आप नहीं जा सकते। श्रावक जिनदास कहने लगा-मैं भोजन करने में असमर्थ हूँ। गृहस्थ ने पूछा-क्या आप भोजन करके आये हैं? उत्तर मिला-नहीं, भोजन करके नहीं आया हूँ, भोजन करना बाकी है। तब प्रश्न हुआ-फिर भोजन क्यों नहीं कर सकते? उन्होंने कहा-"मेरा यह नियम है कि जब तक मैं किसी घर की आय-व्यय का जरिया क्या है, यह न जान लूँ, यह पता न लगा लूँ कि किस नीति से पैसा आ रहा है तब तक मैं उस घर में भोजन नहीं कर सकता। न्याय से उपार्जित संपत्ति है तो भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।" नियम तो अनेक प्रकार के होते हैं, पर कोई इस प्रकार का नियम लेकर चलने लगे तो सभी के लिये समस्या हो सकती है। वह श्रावक कहने लगा-"वर्तमान स्थिति से आप अनभिज्ञ नहीं हैं। पैसा कमाने के लिए झूठ-साँच करना ही पड़ता है। कोई थोड़ा करता है कोई बहुत, पर करते हैं

सभी हैं। सभी को करना पड़ता है, कोई विरला ही बच पाता है।" हम जानते हैं, आज के युग में एक या दो प्रतिशत भी न्याय-नीति से अर्जित करने वाले मिलने कठिन होंगे। कठिन का मतलब है यदि सर्वे करें तो सौ या हजार में भी मिलना कठिन है। लाखों में कोई एक लाखीणा मिल सकता है, बाकी तो सभी के पैर धरती पर टिके हैं। सभी एक समान स्थिति में हैं। उस श्रावक ने कहा-'आप तो जानते ही हैं कि आज हेर-फेर बिना काम नहीं चलता।' आगन्तुक श्रावक ने कह दिया-"तो मैं भोजन करने की स्थिति में नहीं हूँ।" श्रावक ने विनम्रतापूर्वक कहा-"देखिये, आपने मेरे घर का हाल ले लिया, फिर भी भोजन नहीं करें, यह ठीक नहीं होगा।" "देखो भाई, हाल ले लिया यह ठीक है पर मैने पहले ही कह दिया था कि जाने बिना मैं भोजन नहीं करूंगा। फिर ऐसी स्थिति है तो मैं भोजन कर भी कैसे सकता हूँ।" लेकिन श्रावक ने आग्रहपूर्वक कहा-"लेकिन बिना भोजन किये मैं जाने नहीं दूंगा। यह लाभ मैं नहीं छोड़ सकता कि घर आया स्वधर्मी भूखा लौट जाये। वैसे जीवन में फिर क्या मजा रहेगा?" मेवाड़ में तो मनुहार की रीत ही खूब है। चाहे कोई जीम कर भी आया हो तो भी कहेंगे थोड़ा तो आरोगना ही पड़ेगा। पर नियम और मर्यादा भी अवश्य पालनीय है।

पिछले वर्ष जब मैं इधर आया था तब एक नियम की चर्चा लगभग सर्वत्र करता रहा था कि यदि आप पूरा का पूरा त्याग नहीं कर सकते तो ऐसी मर्यादा तो होनी ही चाहिए कि कहीं भी संत दर्शन को निकलें तो रात्रि भोजन का त्याग रखें। यदि उतना भी नहीं हो सकता हो तो जहां संघ की या स्वधर्मी की व्यवस्था हो वहां तो न करें। अपने पास भोजन पदार्थ है वह खा लें तो बात अलग है पर संघ में भोजन न करें। मान लो आपके घर कोई रात्रि में ६ बजे पहुँचे और आप भोजन की मनुहार करें और वह तैयार हो जाय तो आपके मन में विचार आयेगा कि संत-दर्शन को जा रहे हैं और ६ बजे खा रहे हैं। विचार आयेगा या नहीं ? कहा गया है-

आंधो भोजन रात में, करे अधर्मी जीव।
एक जिह्वा रे कारणे, देवे नरक में नींव ।।

रात्रि भोजन को अंधा भोजन कहा गया है क्योंकि रात्रि में जीव दिख नहीं पाते। कहते हैं कि चिड़ी, कमेड़ी भी रात को नहीं खाते, पानी भी नहीं पीते, पर मनुष्य के लिए कहते हैं तो कहेंगे-चौविहार तो नहीं कर सकता, भोजन नहीं करूँगा, पर दूध चाय तो खुली रखनी पड़ेगी। कब तक खाते रहोगे ? खाने-खाने में कितना समय निकल गया। सोने में कितना समय निकाल दिया। क्या जीवन में खाना-पीना, सोना ही करना है ? मैं नहीं समझता कि रात्रि में न खायें तो काम न चले। छोटे-छोटे संत-साध्वियां ये कैसे नियम का पालन कर लेते हैं? कहा गया है-**"अभ्यासेन क्रिया सर्वा।"** अभ्यास से सब कार्य हो सकते हैं। अभ्यास डाल लें तो सब कुछ संभव है। यह नहीं कि मैं मर जाऊंगा, कमजोरी आ जायेगी, भूख लग जायेगी। जेठ-आसाढ़ की इतनी गर्मी होती है उस में भी साधु-साध्वी रात को कभी कल्पना भी नहीं करते कि प्यास लगी है तो पानी पी लूं क्योंकि यदि कोई चीज छोड़ दी तो फिर उसकी ओर मन नहीं जायेगा। यदि अन्तर्मन से न छोड़ें तो मन लौट-लौट कर वहां जाता है। अन्तर्मन से छोड़ दिया तो फिर उधर दृष्टि नहीं जायेगी। पू. गुरूदेव फरमाते हैं कि जैसे नाक का श्लेष्म निकाल कर डाल दिया फिर क्या बार-बार उस ओर देखेंगे ? फेंक दिया, छोड़ दिया, फिर बस। वैसे ही अंतर से छोड़ दिया तो फिर भूख प्यास नहीं सताएगी। त्याग-नियम से यह स्थिति बनती है। इसलिए यह नियम तो होना ही चाहिए कि संत-दर्शन को जाएंगे तो रात्रि में भोजन नहीं करेंगे। आप वाहन से आते हो, पाप का लिंक भी जुड़ा हुआ होता है। मैं यह नहीं कहता कि वहां पाप ही पाप होता है। पाप का लक्ष्य नहीं होता है।

प्रभु महावीर के दर्शन हेतु राजा चतुरंगिणी सेना सजाकर जाता था। राजा स्वयं दर्शन कर सकता था पर चतुरंगिणी सेना क्यों सजाता था ? पर इस तरह भी जाते थे। कोणिक, श्रेणिक आदि गये थे और आदेश देते थे कि चतुरंगिणी सेना तैयार करो और साथ में लेकर पहुँचते थे। तीर्थंकरों ने निषेध भी नहीं किया कि यह तुम क्या कर रहो हो ? संत-दर्शन के लिए इतने हाथी घोड़े लेकर आये हो

सभी हैं। सभी को करना पड़ता है, कोई विरला ही बच पाता है।" हम जानते हैं, आज के युग में एक या दो प्रतिशत भी न्याय-नीति से अर्जित करने वाले मिलने कठिन होंगे। कठिन का मतलब है यदि सर्वे करें तो सौ या हजार में भी मिलना कठिन है। लाखों में कोई एक लाखीणा मिल सकता है, बाकी तो सभी के पैर धरती पर टिके हैं। सभी एक समान स्थिति में हैं। उस श्रावक ने कहा-'आप तो जानते ही हैं कि आज हेर-फेर बिना काम नहीं चलता।' आगन्तुक श्रावक ने कह दिया-"तो मैं भोजन करने की स्थिति में नहीं हूँ।" श्रावक ने विनम्रतापूर्वक कहा-"देखिये, आपने मेरे घर का हाल ले लिया, फिर भी भोजन नहीं करें, यह ठीक नहीं होगा।" "देखो भाई, हाल ले लिया यह ठीक है पर मैने पहले ही कह दिया था कि जाने बिना मैं भोजन नहीं करूंगा। फिर ऐसी स्थिति है तो मैं भोजन कर भी कैसे सकता हूँ।" लेकिन श्रावक ने आग्रहपूर्वक कहा-"लेकिन बिना भोजन किये मैं जाने नहीं दूंगा। यह लाभ मैं नहीं छोड़ सकता कि घर आया स्वधर्मी भूखा लौट जाये। वैसे जीवन में फिर क्या मजा रहेगा?" मेवाड़ में तो मनुहार की रीत ही खूब है। चाहे कोई जीम कर भी आया हो तो भी कहेंगे थोड़ा तो आरोगना ही पड़ेगा। पर नियम और मर्यादा भी अवश्य पालनीय है।

पिछले वर्ष जब मैं इधर आया था तब एक नियम की चर्चा लगभग सर्वत्र करता रहा था कि यदि आप पूरा का पूरा त्याग नहीं कर सकते तो ऐसी मर्यादा तो होनी ही चाहिए कि कहीं भी संत दर्शन को निकलें तो रात्रि भोजन का त्याग रखें। यदि उतना भी नहीं हो सकता हो तो जहां संघ की या स्वधर्मी की व्यवस्था हो वहां तो न करें। अपने पास भोजन पदार्थ है वह खा लें तो बात अलग है पर संघ में भोजन न करें। मान लो आपके घर कोई रात्रि में ९ बजे पहुँचे और आप भोजन की मनुहार करें और वह तैयार हो जाय तो आपके मन में विचार आयेगा कि संत-दर्शन को जा रहे हैं और ९ वजे खा रहे हैं। विचार आयेगा या नहीं ? कहा गया है-

आंधो भोजन रात में, करे अधर्मी जींव।
एक जिह्वा रे कारणे, देवे नरक में नींव ।।

रात्रि भोजन को अंधा भोजन कहा गया है क्योंकि रात्रि में जीव दिख नहीं पाते। कहते हैं कि चिड़ी, कमेड़ी भी रात को नहीं खाते, पानी भी नहीं पीते, पर मनुष्य के लिए कहते हैं तो कहेंगे-चौविहार तो नहीं कर सकता, भोजन नहीं करूँगा, पर दूध चाय तो खुली रखनी पड़ेगी। कब तक खाते रहोगे ? खाने-खाने में कितना समय निकल गया। सोने में कितना समय निकाल दिया। क्या जीवन में खाना-पीना, सोना ही करना है ? मैं नहीं समझता कि रात्रि में न खायें तो काम न चले। छोटे-छोटे संत-साध्वियां ये कैसे नियम का पालन कर लेते हैं? कहा गया है-**"अभ्यासेन क्रिया सर्वा।"** अभ्यास से सब कार्य हो सकते हैं। अभ्यास डाल लें तो सब कुछ संभव है। यह नहीं कि मैं मर जाऊंगा, कमजोरी आ जायेगी, भूख लग जायेगी। जेठ-आसाढ़ की इतनी गर्मी होती है उस में भी साधु-साध्वी रात को कभी कल्पना भी नहीं करते कि प्यास लगी है तो पानी पी लूं क्योंकि यदि कोई चीज छोड़ दी तो फिर उसकी ओर मन नहीं जायेगा। यदि अन्तर्मन से न छोड़ें तो मन लौट-लौट कर वहां जाता है। अन्तर्मन से छोड़ दिया तो फिर उधर दृष्टि नहीं जायेगी। पू. गुरूदेव फरमाते हैं कि जैसे नाक का श्लेष्म निकाल कर डाल दिया फिर क्या बार-बार उस ओर देखेंगे ? फेंक दिया, छोड़ दिया, फिर बस। वैसे ही अंतर से छोड़ दिया तो फिर भूख प्यास नहीं सताएगी। त्याग-नियम से यह स्थिति बनती है। इसलिए यह नियम तो होना ही चाहिए कि संत-दर्शन को जाएंगे तो रात्रि में भोजन नहीं करेंगे। आप वाहन से आते हो, पाप का लिंक भी जुड़ा हुआ होता है। मैं यह नहीं कहता कि वहां पाप ही पाप होता है। पाप का लक्ष्य नहीं होता है।

प्रभु महावीर के दर्शन हेतु राजा चतुरंगिणी सेना सजाकर जाता था। राजा स्वयं दर्शन कर सकता था पर चतुरंगिणी सेना क्यों सजाता था ? पर इस तरह भी जाते थे। कोणिक, श्रेणिक आदि गये थे और आदेश देते थे कि चतुरंगिणी सेना तैयार करो और साथ में लेकर पहुँचते थे। तीर्थंकरों ने निषेध भी नहीं किया कि यह तुम क्या कर रहो हो ? संत-दर्शन के लिए इतने हाथी घोड़े लेकर आये हो

सभी हैं। सभी को करना पड़ता है, कोई विरला ही बच पाता है।" हम जानते हैं, आज के युग में एक या दो प्रतिशत भी न्याय-नीति से अर्जित करने वाले मिलने कठिन होंगे। कठिन का मतलब है यदि सर्वे करें तो सौ या हजार में भी मिलना कठिन है। लाखों में कोई एक लाखीणा मिल सकता है, बाकी तो सभी के पैर धरती पर टिके हैं। सभी एक समान स्थिति में हैं। उस श्रावक ने कहा-'आप तो जानते ही हैं कि आज हेर-फेर बिना काम नहीं चलता।' आगन्तुक श्रावक ने कह दिया-"तो मैं भोजन करने की स्थिति में नहीं हूँ।" श्रावक ने विनम्रतापूर्वक कहा-"देखिये, आपने मेरे घर का हाल ले लिया, फिर भी भोजन नहीं करें, यह ठीक नहीं होगा।" "देखो भाई, हाल ले लिया यह ठीक है पर मैने पहले ही कह दिया था कि जाने बिना मैं भोजन नहीं करूंगा। फिर ऐसी स्थिति है तो मैं भोजन कर भी कैसे सकता हूँ।" लेकिन श्रावक ने आग्रहपूर्वक कहा-"लेकिन बिना भोजन किये मैं जाने नहीं दूंगा। यह लाभ मैं नहीं छोड़ सकता कि घर आया स्वधर्मी भूखा लौट जाये। वैसे जीवन में फिर क्या मजा रहेगा?" मेवाड़ में तो मनुहार की रीत ही खूब है। चाहे कोई जीम कर भी आया हो तो भी कहेंगे थोड़ा तो आरोगना ही पड़ेगा। पर नियम और मर्यादा भी अवश्य पालनीय है।

पिछले वर्ष जब मैं इधर आया था तब एक नियम की चर्चा लगभग सर्वत्र करता रहा था कि यदि आप पूरा का पूरा त्याग नहीं कर सकते तो ऐसी मर्यादा तो होनी ही चाहिए कि कहीं भी संत दर्शन को निकलें तो रात्रि भोजन का त्याग रखें। यदि उतना भी नहीं हो सकता हो तो जहां संघ की या स्वधर्मी की व्यवस्था हो वहां तो न करें। अपने पास भोजन पदार्थ है वह खा लें तो बात अलग है पर संघ में भोजन न करें। मान लो आपके घर कोई रात्रि में ६ बजे पहुँचे और आप भोजन की मनुहार करें और वह तैयार हो जाय तो आपके मन में विचार आयेगा कि संत-दर्शन को जा रहे हैं और ६ बजे खा रहे हैं। विचार आयेगा या नहीं ? कहा गया है-

आंधो भोजन रात में, करे अधर्मी जीव।
एक जिह्वा रे कारणे, देवे नरक में नींव ।।

रात्रि भोजन को अंधा भोजन कहा गया है क्योंकि रात्रि में जीव दिख नहीं पाते। कहते हैं कि चिड़ी, कमेड़ी भी रात को नहीं खाते, पानी भी नहीं पीते, पर मनुष्य के लिए कहते हैं तो कहेंगे-चौविहार तो नहीं कर सकता, भोजन नहीं करूँगा, पर दूध चाय तो खुली रखनी पड़ेगी। कब तक खाते रहोगे ? खाने-खाने में कितना समय निकल गया। सोने में कितना समय निकाल दिया। क्या जीवन में खाना-पीना, सोना ही करना है ? मैं नहीं समझता कि रात्रि में न खायें तो काम न चले। छोटे-छोटे संत-साध्वियां ये कैसे नियम का पालन कर लेते हैं? कहा गया है-**"अभ्यासेन क्रिया सर्वा।"** अभ्यास से सब कार्य हो सकते हैं। अभ्यास डाल लें तो सब कुछ संभव है। यह नहीं कि मैं मर जाऊंगा, कमजोरी आ जायेगी, भूख लग जायेगी। जेठ-आसाढ़ की इतनी गर्मी होती है उस में भी साधु-साध्वी रात को कभी कल्पना भी नहीं करते कि प्यास लगी है तो पानी पी लूं क्योंकि यदि कोई चीज छोड़ दी तो फिर उसकी ओर मन नहीं जायेगा। यदि अन्तर्मन से न छोड़ें तो मन लौट-लौट कर वहां जाता है। अन्तर्मन से छोड़ दिया तो फिर उधर दृष्टि नहीं जायेगी। पू. गुरूदेव फरमाते हैं कि जैसे नाक का श्लेष्म निकाल कर डाल दिया फिर क्या बार-बार उस ओर देखेंगे ? फेंक दिया, छोड़ दिया, फिर बस। वैसे ही अंतर से छोड़ दिया तो फिर भूख प्यास नहीं सताएगी। त्याग-नियम से यह स्थिति बनती है। इसलिए यह नियम तो होना ही चाहिए कि संत-दर्शन को जाएंगे तो रात्रि में भोजन नहीं करेंगे। आप वाहन से आते हो, पाप का लिंक भी जुड़ा हुआ होता है। मैं यह नहीं कहता कि वहां पाप ही पाप होता है। पाप का लक्ष्य नहीं होता है।

प्रभु महावीर के दर्शन हेतु राजा चतुरंगिणी सेना सजाकर जाता था। राजा स्वयं दर्शन कर सकता था पर चतुरंगिणी सेना क्यों सजाता था ? पर इस तरह भी जाते थे। कोणिक, श्रेणिक आदि गये थे और आदेश देते थे कि चतुरंगिणी सेना तैयार करो और साथ में लेकर पहुँचते थे। तीर्थंकरों ने निषेध भी नहीं किया कि यह तुम क्या कर रहे हो ? संत-दर्शन के लिए इतने हाथी घोड़े लेकर आये हो

तो कितने जीव मरेंगे ? और मरे हैं। श्रेणिक के घोड़े से मेंढक की क्षति हुई थी। वाहन से आते हैं तो कहां इर्या का शोधन हो सकता है। श्रावक तो क्या साधु भी बराबर ध्यान नहीं रख सकता है फिर गाड़ी से चलें तो वहां हिंसा टाल पाना संभव नहीं है। पर चूँकि वहां लक्ष्य हिंसा का नहीं है धर्म उपार्जन के भाव हैं, इसलिए तीर्थंकरों ने रोका नहीं। पर हम ऐसे प्रसंग पर उपस्थित हों तो केवल जंवाई की भांति न बैठ जांय किन्तु संवर की क्रिया भी करें ताकि साथ में जो आश्रव लेकर आते रहे हों उससे बचाव हो जाय। मैं कहता रहा हूँ कि आप ये नियम कर लें कि हम उसमें बैटका साथ में अवश्य रखेंगे। यदि अवसर हो तो सामायिक कर लें यदि अवसर नहीं हो, संतों की अनुकूलता न हो या आपको समय नहीं हो तो संवर करें। पर साथ में बैटका अवश्य रहना चाहिए। वैसे ही रात्रि-भोजन के नियम का भी ध्यान रखना चाहिये और उसकी पालना होनी चाहिये।

मैंने बहुत जगह नियम दिलाये हैं, लोगों ने लिये हैं और उनकी पालना भी करते हैं। मैं बतला रहा था- आगन्तुक श्रावक का नियम कि आय यदि नैतिकता से अर्जित न हो तो वे भोजन नहीं कर सकते थे। प्रसंग आगे बढ़ा। उन्होंने कहा एक उपाय है मैं भोजन कर सकता हूँ यदि आप एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर लें। पूछा गया क्या करना है ? उसने कहा मैं रात को चोर हूँ और दिन में साहुकार। रात को जो कुछ चोरी करता हूँ उसे ही दिन में बेचता हूँ, यह मेरी आय का जरिया है। यदि आप इसका त्याग करवा भी दें तो भी मैं छोड़ नहीं पाऊंगा। अगर आपके कहने से त्याग तो कर दिया पर फिर भी रात्रि में हेरा-फेरी करता रहा तो यह ठीक नहीं होगा। आगन्तुक ने कहा-देखो भाई ! चोरी नहीं छोड़ सकते तो मत छोड़ो पर यह नियम कर लो कि मैं झूठ नहीं बोलूंगा, सत्य का उच्चारण करूंगा, असत्य भाषा का प्रयोग नहीं करूंगा। उसने सोचा इसमें क्या है, मेरा धन्धा तो छूट नहीं रहा है। उसने स्वीकृति दे दी। उन्होंने नियम दिलवा दिया और भोजन करके चले गये। उस श्रावक ने सोचा मैंने सौगन्ध ले ली है कि झूठ नहीं बोलूंगा। यदि मैं रात्रि में निकला और कोई पूछ ले कि कौन हो, तो मैं झूठ भी नहीं बोल

सकता और कह दूं कि चोर हूं, और सामने पुलिस मिल जाये तो, मुसीबत में पड़ जाऊँगा। विचार करने लगा-एक बड़ी चोरी कर लूं ताकि रोज-रोज का झंझट छूट जाय। बड़ी चोरी कहां करे ? सेठ के घर तो कितना मिलेगा ? सोचा राजा के यहां चलो। वह घर से निकला, उधर राजा भी वेष परिवर्तन करके नगर का हाल-चाल लेने निकला था कि देखूं क्या गतिविधियाँ चल रही हैं। वहां अंधेर नगरी चौपट राजा की अवस्था नहीं थी। राजा स्वयं सार-संभाल के लिए निकला था। मार्ग में चले तो रास्ते में ये महानुभाव मिल गये। राजा ने दबंग आवाज में पूछा-कौन? उसने सोचा सिर मुंड़ाते ही ओले पड़े। आज ही प्रतिज्ञा ली और आज ही मुसीबत आ गई। एक क्षण तो मन में आया कि झूठ बोल दूं पर दूसरे ही क्षण-नहीं-नहीं प्रतिज्ञा नहीं तोडूंगा। उसने कहा-"मैं चोर।"

राजा ने सोचा पागल है। चोर और सत्यवादी ! सत्यवादी बनेगा तो उसका धंधा कैसे चलेगा ? कोई मनचला होगा। राजा ने उसे जाने दिया। राजा घूमघाम कर लौटा तो फिर ये महानुभाव मिल गये। राजा ने पूछा कौन ? चोर ! चोर में राजा को भी दिलचस्पी आने लगी थी। कहां गया था ? चोरी करने। चोर का भी मन बढने लगा। उसने सोचा कि जब चोर कहने पर भी नहीं पकड़ा गया तो सत्य ही बोलना चाहिए। "कहां चोरी की?" "राजा के कोष में।" "क्या चुराया?" "रत्नों के दो डिब्बे।" राजा ने कुछ नहीं कहा किन्तु एक अनुचर उसके पीछे लगा दिया। जाओ देखो यह कहां जाता है इसके मकान का पता नोट कर लेना। राजा ने उसे छोड़ दिया। रात बीती, जब सबेरा हुआ पहरेदारों ने देखा कि कोषागार के ताले टूटे हुए थे। कोष में चोरी हुई थी। खजांची को सूचना दी गई। खजांची अंदर गया, सारी चीज वैसी की वैसी ही थी पर कल जो चार ड़िब्बे आये थे, उनमें दो गायब थे। अभी तो उनका लेखा भी नहीं हुआ था। चोरी हुई तो दो के साथ क्या फर्क पड़ता है। उसने सोचा राजा के पास दर्ज कराना है तो दो की जगह चार करा देंगे। उसने ऐसा ही किया। राजा ने सुना तो मन में सोचा-चार डिब्बे? यदि वह यथार्थ में चोर है तो वह दो ले गया है। वह कह रहा था

दो डिब्बे लाया हूं और खजांची कहता है चार डिब्बे। इसका मतलब है कि कहीं न कहीं गड़बड़ है। दीवान को आदेश दिया गया- खोज जारी करो। दीवान अभयकुमार खोज हेतु निकले। इधर सम्राट ने कोषाध्यक्ष और दूसरे साथियों से कहा कि आज खेल खेलने का मन हो रहा है और खेलते-खेलते अंगूठी दांव पर लगा दी। राजा अंगूठी जीत गये और पहले से ही जिसे कुछ सूचित कर रखा था उसे अंगूठी दे दी। वह व्यक्ति अंगूठी लेकर कोषाध्यक्ष के घर पहुंचा और कहने लगा जो दो नये डिब्बे आये हैं वे दे दो। पहले तो उसकी पत्नी ने आनाकानी की। जब उसने कहा अभी खतरे की घड़ी है उन्होंने अंगूठी भेजी है। पत्नी को भय हुआ कि कोई घटना घट न जाये। अतः कहा-आप पर्ची पर लिख दो कि अमुक व्यक्ति ने मांगे थे ताकि वे मुझ पर नाराज न हो जायें, मैं उन्हें पर्ची दिखा सकूं। पति की अंगूठी देखी तो पत्नी ने विश्वास कर लिया और दोनों डिब्बे दे दिये। वे डिब्बे राजा के पास पहुँच गये। इधर उस चोर को भी राजसभा में सम्राट के सामने उपस्थित किया गया, पर उसे तो भय नहीं था क्योंकि उसे अब बल मिल गया था। वह सोच रहा था कि जब सत्य के बल पर मैं रात्रि में बच गया तो अब इसे नहीं छोड़ूंगा। सत्य के प्रति उसकी आस्था गहरी हो गई थी। यदि पहले ही संकट में विचलित हो जाता तो बच नहीं पाता। पर अब हृदय में गहरा विश्वास बैठ गया था। ऐसी स्थिति में जब उससे पूछा गया कि डिब्बे कितने थे तो उसने दो डिब्बे सामने धर दिये। राजा ने खजांची से पूछा-बताओ बाकी दो डिब्बे कहां गये? खजांची ने कहा राजन! मैं पीढ़ियों से आपके यहां काम कर रहा हूँ मैंने कभी एक छदाम की भी हेरा-फेरी नहीं की है। क्या वह ठीक कह रहा था ? नहीं, दंड का भागीदार कौन है ? जब तक अपराध साबित न हो जाय तब तक कोई नहीं। यद्यपि पर्दे के पीछे तो अपराध साबित है पर प्रकट नहीं है। इस स्थिति में दुनिया यही कहेगी कि बेचारे खजांची को व्यर्थ ही सताया जा रहा था। इतने वर्षों में उसने कभी किसी भी प्रकार की हेराफेरी नहीं की थी। राजा कान के कच्चे होते हैं। अधिकारी को हटाना था ऐसे तो हटाया नहीं जा सकता था। इसलिये अपराध लगा रहे हैं, दुनियां न जाने कितनी बातें करने लग

जाती। परदे के पीछे तो अपराध है। राजा ने कहा इसे कोड़े लगाये जायं। कोड़े लगे तो खुसर-फुसर होने लगी यह कैसा न्याय है ?

राजा, अग्नि, पवन, जल इनकी उल्टी रीति ।
बचते रहिये परषराम, इनकी थोड़ी प्रीति ।।

पहले काम था तो इतना सम्मान दिया और आज कोड़े लगाये जा रहे हैं, यह स्थिति बनी। कहते हैं-मार के आगे भूत भी भागते हैं। जब सरकारी कोड़े लगते हैं तो सत्य उगलने में देर नहीं लगती। आज कोड़े नहीं लगते। न्याय प्रक्रिया ज्यादा उदार हो गयी है या जो कुछ हो, पर आज नये-नये दंड दिये जाते हैं। कहते हैं जब बिजली के शॉक लगाये जाते हैं तब व्यक्ति हाय-हाय करता है और उसे अपना अपराध स्वीकार करना ही पड़ता है। हम जानते हैं कि इस प्रकार मार के आगे भूत भी भागते हैं। हमारे भीतर का भूत भग जाता है क्योंकि भूत के पैर कच्चे होते हैं, चोर के पैर कच्चे होते हैं। एक कहावत भी है 'चोर की दाढ़ी में तिनका'

एक बार प्रसंग आया कि चोर को कैसे ढूँढा जाय ? एक व्यक्ति ने कहा- मैंने ढूँढ़ लिया है। पूछा गया-कैसे ढूँढ लिया ? वह कहने लगा चोर इसी सभा में बैठा है ? कौन है बताओ ? मैं क्या कहूँ-चोर की दाढ़ी में तिनका है। कौन देखेगा अपनी दाढ़ी ? जो कल्पना में चोर है क्योंकि उसके तो मन में ही चोर है, वही अपनी दाढ़ी टटोलेगा। कहीं मेरी दाढ़ी में तिनका तो नहीं है ? कोई देख न ले मैं पहले ही हटा दूं। इसी प्रकार जिसे जीवन पर निष्ठा नहीं, किसी में आस्था नहीं उसका मन सदा डोलायमान रहता है। वही सोचता- मेरा जीवन सत्य नहीं है, कहीं तिनका न निकल जाये अतः वही टटोलता है। वहां तिनका होता है या नहीं, पता नहीं पर स्वयं के हाथ से प्रतिलेखना कर लेता है और सावधान होकर बैठ जाता है। वह नहीं सोचता है कि किसी ने देख लिया है। यहाँ तो धूल झोंक सकता है पर सिद्धों की आंखों में नहीं। हम क्या कर रहे हैं क्या नहीं-दुनिया की आंखों से छिपाया जा सकता है, आत्मभावों से नहीं छिपा सकते। शांति के क्षणों में, जब थोड़े विश्राम में आयेगा तब तो मन शांत नहीं रहेगा। आवाजें आयेंगी। यदि आत्मा जागृत

है तो उसे कुरेदेगी–"यह ठीक नहीं किया, यह उचित नहीं था" ऐसे कांटे उसका दिल सालते रहेंगे। नारकीय जीवों को जैसी पीड़ा करवत से नहीं होती, उससे ज्यादा पीड़ा उसे सालती रहेगी। उसका अपराध उसे शांति से बैठने नहीं देगा। यदि नीचे कांटे हों, टिन की कॉटी हो और उस पर कोई दरी बिछाकर बैठ जाय तो आराम से बैठ नहीं सकता। कभी इधर तो कभी उधर से कांटा गड़ता रहेगा। यह अवस्था बनी रही, भीतर यदि शल्य है, तो परदे के बाहर भले ही न दिखे पर भीतर चुभेगा। इतना चुभेगा कि वह शांति से नहीं बैठ पायेगा, उसे चैन नहीं मिलेगा। कोषाध्यक्ष को कोड़े पड़े तो उसने उगल दिया कि चोरी उसने की थी और वे डिब्बे घर पर पड़े थे। राजा उस चोर श्रावक पर प्रसन्न हुआ क्योंकि उसके जीवन में सत्य था। श्रावक का जीवन सत्य-निष्ठ रहे इसीलिए दूसरे अणुव्रत में कहते हैं–झूठा लेख नहीं लिखना, कूड़ा लेख नहीं लिखना। जो इसका पालन करता है उसके जीवन पर विश्वास किया जाता है। जो झूठ नहीं बोलता है उसके जीवन में प्रामाणिकता आती है। यदि उस चोर को सत्य का बल नहीं मिला होता तो वह बच नहीं पाता। तीसरे अणुव्रत में कहा गया है–चोर को सहायता नहीं देना, चोर द्वारा चुराई गई वस्तु नहीं लेना। यदि आपने चोरी की वस्तु खरीदी तो आप भी चोर के सहायक हुए। आप भी अपराधी हुए।

एक कथा है- एक चोर को सूली की सजा दी गई थी। प्यास से वह छटपटा रहा था। एक श्रावक उधर से निकला। अपराधी से उसने कहा–मैं जब तक न आऊं तब तक तुम नवकार मंत्र का जाप करते रहना। पानी लाकर देने की स्थिति में वह भी नहीं था। यदि देता है तो राजा उसे भी दंडित करता। क्योंकि अपराधी को सहायता देने के कारण वह भी दंड का भागीदार बनता। सहायता देने में भी जब भागीदारी मानी जाती है तब उसकी वस्तु लेने में तो होगी ही ? धन्ना के भाईयों ने लिया, छापा पड़ा और वे वस्तुएं मिली तो अधिकारियों ने सारा धन, मकान, संपत्ति जप्त कर उसे देश निकाला दे दिया। यह दंड वस्तु लेने के कारण दिया गया। यह नीति भी इसलिए निर्धारित की गई है ताकि व्यक्ति सत्य

पर दृढ़ रहे। उस श्रावक ने चोरी की थी पर सत्य पर दृढ़ रहा इसलिये डिब्बे लाकर दे दिये। राजा खुश हुआ उसकी सत्यवादिता पर और उसे कोषाध्यक्ष बना दिया। कोई कहे चोरी का ये फल! ये चोरी का नहीं नियम की, नीति की पालना का मूल्य था। कानून का उद्देश्य मूलतः किसी को प्रताड़ित करना नहीं होता। प्रताड़ना के लिए कानून नहीं बनाये जाते। राजकीय प्राथमिकताएँ कुछ भी बन जायें पर कानून, सुधारने के लिए होता है। कानून भंग होता है तो उससे अराजकता फैलती है। नियम-मर्यादा भंग नहीं होनी चाहिये। सामाजिक मर्यादा प्रजा की सुरक्षा के लिए होती है और उसका पालन मानव-अधिकार के अन्तर्गत आता है। कोई सोचे- यह तो हम पर जबरन थोपा जा रहा है तो यह हमारी बुद्धि की कमी है। सोचने को कोई कुछ भी सोच सकता है। कई बार ऐसा भी होता है कि सरकार कानून बनाती है तो हड़ताल होती है। पर यदि इसके बावजूद वह अविचल रहे और कोई उस मर्यादा को तोड़े तो क्या वह अपराधी नहीं होगा? हम आन्दोलन कर लें, हड़ताल कर लें कि इसे नहीं मानेंगे पर हमारे मानने न मानने से कुछ नहीं होना है। संसद में जो प्रस्ताव पारित हो गया और राष्ट्रपति ने जिस पर हस्ताक्षर कर दिये, वह निरस्त नहीं हो सकता। उसकी पालना प्रत्येक के लिए अनिवार्य है, चाहे वह हड़ताल करे या आंदोलन। यह व्यवस्था सुरक्षा हेतु है इसके पीछे राजनैतिक स्वार्थ उत्पन्न हो जाय और वह गलत मार्ग पर ले जायें यह बात अलग है। पर जो निर्धारण सुरक्षा की भावना से हुआ हो उसे गलत नहीं कहा जा सकता। जैसे यह सामाजिक व्यवस्था है वैसे ही संत जीवन की भी व्यवस्था की बात है। जहां संघ को साथ लेकर चलने की बात है। व्यक्ति अलग-अलग होते हैं सभी साधक होते हैं और सभी अपनी-अपनी तरह से साधना करते हैं। संघ में छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा साधक भी व्यवस्थित ढ़ंग से साधना कर सके इसीलिए तीर्थंकर देवों ने संघ की व्यवस्था की है। व्यवहार सूत्र में संघीय व्यवस्था के विधान भी लागू किये गये हैं। उसके जो कानून हैं, जो समाचारी है, उसके अनुरूप चलें तो साधना का जो स्रोत प्रवाहित होगा उसमें कहीं अड़चन नहीं आयेगी। उस स्थिति में व्यक्ति

आराम से आराधना करता हुआ धर्म की ओर बढ़ सकेगा। यदि उसमें जोड़-तोड़ की जाती है तो वह हितकारक नहीं होगी। यदि कोई टंकी में जहर घोलने वाला अपराधी माना ही जायेगा। संत जीवन की सुरक्षा टंकी की भांति है यदि उसमें जहर घुल गया तो वह घर-घर में, व्यक्ति-व्यक्ति में पहुँचेगा उससे कितनी क्षति होगी, आप समझ सकते हैं। अतः संघ सुरक्षा महत्वपूर्ण मानी गई है। यदि उसकी सुरक्षा नहीं की तो एक-एक नल में वह पानी पहुँचेगा। संत जीवन यदि सुरक्षित नहीं तो जो विपरीत आचरण किया जायेगा उसका वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। इसलिये यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय विषय है। यदि हम चाहते हैं कि एकांत सुख-रूप मोक्ष प्राप्त हो तो ऐसी अवस्था पाने के लिए ज्ञान का, सत्य का प्रकाश प्रकट करें, सत्य को जानें। सत्य को जान पाना कठिन नहीं है, वह कहीं दूर नहीं है आपके हृदय में है पर उसके ऊपर अनेक परतें कपट की आ गई हैं इसलिये हम उसे जान नहीं पा रहे हैं।

मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिरदे के मांय ।
आडी टाटी कपट की, तासूं दिखत नाय ।।

उस कपट के कारण न सत्य के दर्शन हो रहे हैं, न ही आत्मा के अस्तित्व का बोध हो रहा है। यह जानने की और इसकी अनुभूति करने की आवश्यकता है कि आत्मा सत् है। ऐसा बोध और ऐसी अनुभूति हो जाना ही सत्य को जानना है।

कहा गया है- 'सत्य अर्थात सत्, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है, सत्य है। उसी को सामने लेकर चलें तो आत्म द्रव्य को देख पायेंगे। उसकी अनुभूति के बाद फिर किसी प्रकार की शंका अथवा संशय की स्थिति नहीं रह जायेगी। वह आनंद सदा-सदा बना रहेगा। हम जानते हैं कि जहां 'शांत सुधारस -जलनिधि है' वहां जीवन में दुविधा नहीं रहेगी। जहाँ शांत सुधा के अमृत का समुद्र भीतर प्रकट हो जायेगा वहाँ आत्मा तक शांति ही शांति व्याप्त हो जायेगी। वह समुद्र हम अपने आप में प्रकट कर सकते हैं पर अभी उस पर जल कुंभी आ गई है। रास्ते में देखा था कि जलकुंभी का पानी पर ऐसा फैलाव हो जाता है, ऐसा संगीन

जाल बन जाता है कि यदि उसमें कोई जाये तो निकल ही न पाये। उसे साफ करना या हटाना अत्यंत कठिन भी होता है। वह जल पर फैली रहे और लोग दूर से देखें तो पानी के दर्शन भी नहीं हो सकते। हमारे भीतर भी शांत सुधारस भरा हुआ है, अन्दर कोई कोठी नहीं है कि उसे बाहर से सुधारस लाकर भरना पड़े। हमारे भीतर ही तो दरिया भरा है किन्तु क्रोध, मान, माया, ईर्ष्या जैसी दुष्प्रवृत्तियों की जलकुंभी उस पर इतनी फैली हुई है कि भीतर भरे उस शांत सुधारस के दर्शन नहीं हो रहे हैं। जब तक जलकुंभी के तांतों को हटायेंगे नहीं, शांतसुधारस का आनंद नहीं ले पाएंगे। सत्य या आत्मभाव शांत सुधारस का झरना है वहां पहुंच कर उसका अनुभव कर लेना ही सत्य का अनुभव करना है। जैसे तालाब के किनारे ठंडक की अनुभूति होती है वैसे ही सत्य और आत्म भाव की वे हिलोरें स्वयं को तो शांत करेंगी ही, अपने निकट आने वालों को भी शांति प्रदान करेंगी। मैं कई बार कहता हूँ- समवशरण में शेर और बकरी पास-पास भी बैठ जाते हैं तो भी कुछ नहीं होता। क्यों होता है ऐसा प्रभाव ? इसलिये क्योंकि शांत सुधारस वहाँ लबालब भरा होता है। उसका प्रभाव और वहाँ की उसकी शीतल समीर, बाहर आने लगती है और २५ योजन तक उसकी अनुभूति होती है। वहाँ ईति-भीति, बाढ़, दुष्काल कुछ नहीं होता क्योंकि वहाँ अपने भीतर सत्य को प्रकट कर लिया गया होता है। वही सत्य हमारे जीवन में भी समाहित हो लेकिन उस पर जो जलकुंभी छाई हुई है उसे यदि हटा लें तो फिर शांति, संतोष और आनन्द स्वतः ही जीवन में प्रकट हो जायेंगे।

□□

4. शांति सुधारस का स्रोत

प्रत्येक प्राणी शांति का कामी और सुख का अभीप्सु है। अशांत और दुःखी जीवन कोई जीना नहीं चाहता। अशांति के क्षणों में वह इतना बेचैन हो जाता है कि निश्चय नहीं कर पाता कि क्या करूँ, क्या न करूं ? एक अनोखी प्रकार की उलझन वह स्वयं में महसूस करता है। चाहता है किसी प्रकार अशांति दूर हो और शांति के क्षण प्राप्त करूं। शांति के क्षणों में पहुंच कर ही राहत पाता है। राहत मिलने पर जीवित रहने का या जीने का भाव एक आकांक्षा में परिवर्तित हो जाता है। थोड़े समय पहले जो उलझन में था, तनावग्रस्त था, जीना हराम समझ रहा था, उसकी मानसिकता में परिवर्तन हो जाता है। अब उसे जीवन की आशाएं, आकांक्षाएं घेरने लगती है। अब वह नहीं चाहता कि मरूँ। मानसिकता-परिवर्तन का ऐसा प्रसंग जिस कारण बनता है वह है-शांति। इस स्थिति पर किंचित विस्तार से विचार करें।

शांति का कारण क्या है और अशांति का कारण क्या है, यदि इसकी खोज करें तो अशांति का कारण तो मिल सकता है पर शांति का कारण नहीं। वस्तुगत स्वभाव कारण नहीं होता क्योंकि वह सहज स्वभाव होता है। पानी शीतल होता है पर यदि कोई पूछे कि पानी शीतल क्यों होता है तो इसका जवाब नहीं मिल सकता। हां पानी गर्म क्यों होता है, इसका जवाब है कि आग का स्पर्श मिलने पर पानी खौलता है, गरम होता है। गर्म होने के पीछे कारण है पर शीतल होने के पीछे नहीं, क्योंकि वह उसका स्वभाव है। वैसे ही अशांति के पीछे कारण है पर शांति के पीछे नहीं, क्योंकि वह आत्मा का स्वाभाविक, मौलिक गुण है। आत्मा जहां भी है वहां शांति, संतोष आदि मौलिक गुण भी उपस्थित रहते हैं, अतः वे भी वहाँ प्राप्त होंगे। तब प्रश्न होगा कि फिर भी व्यक्ति अशांत क्यों रहता है ?

वह शांति और सुख चाहता है, पर शांति कैसे प्राप्त हो उसके भी उपाय हैं, कारण हैं। उपाय का मतलब यह नहीं कि वे शांति के कारण हैं। जिनके कारण अशांति है वे ही उपाय भी हैं उन्हें दूर करने के और वे ही उपाय हैं दुःख दूर करने के। वे कारण दुःख-द्वंद्व को हटाने वाले भी हैं। हटाने वाले तत्व की प्रकृति या हटाने के तरीके का जब ज्ञान हो जाता है तब उससे वह दुःख दूर करने की तैयारी भी हो जाती है। तब यह समझते की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि शांति लुप्त कहां हो गई, हम अशांति को क्यों अपनाते रहे ? वस्तुस्थिति यह है कि अशांति को हम शांति के रूप में अपनाते रहे हैं। जब तक दृष्टि का विभ्रम है, सीप में चाँदी की अनुभूति होती रहती है। सूर्य की किरणों से सीप को रजत मानता हुआ व्यक्ति उसे ग्रहण करने को तत्पर होता है, पर जैसे ही वह पास पहुँचता है, भ्रम दूर हो जाता है। वह समझ जाता है कि वस्तुतः रजत नहीं, वह सीप थी जिसे उसने चांदी समझा था। वैसे ही व्यक्ति संसार में जिससे थोड़ी सी भी साता का अनुभव कर लेता है, सोचता है उसमें ही सुख है। यह विभ्रम की दशा है और उन-उन उपायों को प्रेरित करती है, जो उपाय व्यक्ति यह समझ कर करता है कि इनसे मुझे शांति मिलती है।

इस संदर्भ में मानव सभ्यता के विकास के इतिहास पर थोड़ी दृष्टि डालें। आदि-युग में युगलिकों को मकान की आवश्यकता नहीं थी। वे जंगल में रहते थे। उन्हें उसमें ही जो आनन्द प्राप्त था, जो सुख मिलता था उसकी मेरे ख्याल से आज मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। भले ही युगलिकों के पास सुन्दर मकान नहीं थे, आभूषण नहीं थे फिर भी उनके जीवन में तनाव नहीं था, चूंकि उनका जीवन सहज था। आज जितनी भौतिक सुविधाएं बढ़ी हैं, जितने अनुसंधान हुए हैं और उनसे प्राप्त लाभों को व्यक्ति अपने जीवन में जितना ही जोड़ने का प्रयत्न करता रहा है, उतना ही वह तनाव ग्रस्त हुआ है। मकान बना लिया तो मकान में भी चैन नहीं। सोचेगा, यह तो गर्मी में गर्म रहता है और सर्दी में ठंडा ज्यादा रहता

है। ऐसी ही अनेक अवस्थाएं उसके साथ जुड़ जाती हैं। तव यह बात समझ में आ जाती है कि हम ने शांति को मोल लेने के लिए जिन-जिन उपायों को काम में लिया, जिन्हें आजमाया उनसे हम तनाव में आये हैं, उनमें शांति की अनुभूति नहीं कर पाये हैं। मनुष्य चाहता तो है शांति पर जिन उपायों की खोज करता है, उनसे शांति मिलती नहीं। इस प्रकार उपाय करते-करते जब निकलता है तो वह हताश हो जाता है और यह सोच कर दुःखी होता है कि मुझे शांति उपलब्ध नहीं हो रही है। ऐसी मानसिकता बन जाने पर वह यह नहीं सोचता कि मैं खोज कहां कर रहा हूँ ? वह शांति को ऊपर-ऊपर खोजता है पर वह ऊपर-ऊपर तो मिलने वाली है नहीं, शांति तो भीतर है। भीतर है और बाहर ढूंढे तो मिल पाएगी क्या ? बाहर दौड़ेगा तो बाहरी तत्व ही प्राप्त होंगे। पर सत्य यह है कि आज हम बाहर ही बाहर दौड़ रहे हैं, भीतरी अवस्थाओं को हमने जाना ही नहीं है।

एक शिष्य गुरू के पास पहुँचा, चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं, निराशा की झलक भी थी किन्तु साथ ही भीतर जिज्ञासा भी बनी हुई थी। निराशा के भीतर भी आशा की किरण थी। वह चाहता था कि मुझे कहीं कोई मार्ग-दर्शन देने वाले मिल जाय। अतः वह इन महात्मा के पास पहुँचा था। उनके चरणों में थोड़ी देर बैठा रहने के बाद उसे लगा कि वहाँ सुखद अनुभूति हो रही थी। उसने सोचा कि क्या कारण है कि महात्मा के चरणों में शांति की अनुभूति हो रही है ? वह बैठा रहा। महात्मा नित्य-नियम आदि कार्यक्रम से निवृत्त हुए। वह कहने लगा-"गुरूदेव ! मैं बहुत समय से शांति की, सुख की खोज में भटक रहा हूँ। जहाँ-जहाँ भी जाता हूँ थोड़ी देर भले ही साता मिले, शांति प्राप्त हो, पर पुनः मन बेचैन हो जाता है, दुःख की हिलोरें उठने लगती हैं। अनेक शंकाओं-कुशंकाओं से चित्त विभ्रम में चला जाता है। मैं अपने आप को शांतिमय कैसे बनाऊँ? मुझे सुख कैसे मिल सकता है ?" महात्मा चुप बैठे रहे, जवाब नहीं दिया! कुछ समय ऐसे ही निकला तब महात्मा ने कहा-"वत्स! अब

भोग लगाने का समय हो रहा है। पहले सूर्य-तर्पण करना है तो नदी में स्नान नहीं करोगे?" उसने कहा-"हां, स्नान तो करना चाहता हूँ।" दोनों निकले और नदी के किनारे पहुँचे। स्नान के लिए नदी के बीच धारा में डुबकी लगाई। गुरू ने शिष्य के सिर पर हाथ रखा और दबा कर उसे पानी के भीतर ही रोक दिया, उठने नहीं दिया। वह छटपटाने लगा, उसे लगा मैं अब मरा, तब मरा, डूब जाऊंगा, उसकी हालत खस्ता होने लगी। उसका दम घुटने लगा था। उसे लगा कि थोड़ी देर और हुई तो बचूंगा नहीं। गुरु ने हालत देखी तो हाथ ऊपर कर लिया और उसे किनारे पर ले आये। गुरू ने पूछा-जिस समय मेरा हाथ तुम्हारे माथे पर था उस समय तुमने क्या अनुभव किया ? शिष्य कुछ रोष में था बोला-"आप अब पूछ रहे हो, क्या अनुभव हो रहा था ? मैं मर जाता तो आपको तो कोई फर्क नहीं पड़ता।" गुरू ने कहा-मैं तो पूछ रहा हूँ तुम क्या अनुभव कर रहे थे, क्या चाह रहे थे? "मैं छटपटा रहा था, श्वास नहीं आ रही थी, साँस घुटने लगी थी। एक ही चाह थी कि यह हाथ अलग हो और मैं ऊपर उठ जाऊं, और कोई दूसरी चाह नहीं थी।" गुरू ने कहा-इसी प्रकार की चाह यदि शांति के लिये, सुख के लिए भीतर जग जाय तो फिर तुम कभी अशांत नहीं रहोगे। फिर अशांति में गोते नहीं लगाते रहोगे।

बन्धुओं ! शांति का झरना, सुख का अमृत, हमारे भीतर ही भरा है। उसे प्रकट करने के लिए कवि कहते हैं कि सुपार्श्व भगवान के चरणों में वंदन करो। वंदन प्रक्रिया संपन्न हुई तो तुम उस शांत सुधारस का पान कर सकोगे, वह शांति भीतर आ सकेगी। उस शांति की प्राप्ति बाहर से नहीं होगी। वह तो तुम्हारे भीतर ही है। उसका प्रकटीकरण करना है जो तिरोहित है, ढंका हुआ है। जो आवरण में है, उसे उजागर करना है। उजागर होते ही दुःख, दुविधा, द्वंद्व सब दूर हो जायेंगे, कर्म कलिमष भी दूर हो जायेंगे।

बात वंदना या नमस्कार की है इसलिये इस नमस्कार की महिमा पर भी विचार कर लें। नमस्कार मंत्र में पाँच नमस्कारों की

बात की गई है– 'एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो' अ
सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार किया ग
अरिहंत में सभी केवलियों का समावेश हो जाता है। उनको
किया तो सुपार्श्वनाथ भगवान को नमन भी उसी के अन्तर्ग
जाता है और उन्हें वंदन किया जाता है– "श्री सुपार्श्व जिन
..।" दुःख दूर करने में वंदन सहयोगी होगा। उस शांत सुधार
प्राप्त करने, प्रकट करने में भी वह सहयोगी बन सकता है,
बन सकता है। पर तभी जब वंदन विधि से किया जाय, सह
से किया जाय, इस प्रसंग को समझें। वंदन कैसे किया जाय?
की प्रकिया क्या है ? आज हम वंदन करते अवश्य
तौर-तरीका क्या है, यह नहीं जानते। वन्दन शांति का कारण
है पर ऊपर-ऊपर से करते रहे तो चित्त शांत नहीं होगा।

महात्मा बुद्ध बैठे हैं, उनका एक शिष्य उनसे प्रश्न
है–"भगवन् ! मैं जहां भी जाता हूँ, जिधर भी देखता हूँ
अशांति में ही दिखाई देता है। जिस किसी से पूछो, वह शांति
ही चाहता है, फिर भी दुःखी है। कारण क्या है ?" बु
कहा-भाई ! उत्तर तुम्हें मिलेगा पर थोड़ा परिश्रम करना
एक कागज कलम लेकर जाओ और एक-एक घर में घूमकर
से पूछो कि वस्तुतः तुम क्या चाहते हो?" शिष्य निकल
एक-एक गांव और प्रत्येक घर में घूमा और सबसे वही प्रश्न
लगा। जैसे आपसे कोई सरकारी अफसर या राजनेता पूछ
आप अस्पताल, सड़क आदि बताएंगे। वहां वे भी यही बताने
आपने थोड़ा ऊँचा स्तर रखा, व्यक्तिगत मांग नहीं करके सम
मांग रखी। उसने जब एक-एक व्यक्ति से पूछा तो किसी ने
परिवार, किसी ने कहा धन, किसी ने कहा पुत्र। इस प्रकार
व्यक्ति ने अपनी कोई भौतिक इच्छा बता दी। वह लिस्ट
पहुँचा। लिस्ट में किसी ने भी यह मांग नहीं की थी कि मुझे
चाहिए या सुख चाहिए। तब समझ लीजिये कि शांति और सु
लोगों की कामना कितनी सच्ची है।

इस संदर्भ में सेवा की बात कर लेनी भी अपेक्षित है क्योंकि सेवा उसे भी सुख-शांति देती है जो सेवा करता है और उसे भी जिसकी सेवा की जाती है। परन्तु असली सेवा परिवार से ऊपर उठकर की जाती है क्योंकि परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति तो सभी करते हैं, वही तो पूर्णता नहीं है। यदि क्षमता है तो साधु बनें। साधु नहीं बन सकते तो गृहस्थ रहते हुए श्रावक जीवन की आराधना करें। गृहस्थ की भूमिका भिन्न है, श्रावक की भिन्न है। श्रावक गृहस्थ जीवन में रहते हुए व्रत नियम से अपने जीवन को व्यवस्थित करे। विवेकपूर्ण क्रिया करने वाले को श्रावक कहा गया है। वैसे कहते हैं कि जो सुनने वाला है, विवेक पूर्वक कार्य करता है और कर्तव्य परायण है, वह श्रावक है। आनन्द श्रावक के लिए कहा गया कि वह मेढ़ीभूत था, चक्षुभूत था। केवल अपने परिवार के लिए नहीं किन्तु जातीय समाज में मेढ़ीभूत था। मेढ़ी का तात्पर्य है खेती में जो खला निकालने के लिए बांस गाड़ा जाता है उसमें एक दूसरे बैलों को बांध कर घुमाया जाता है। आज तो ट्रेक्टर दौड़ते हैं पर पहले यह प्रक्रिया होती थी जिससे पुले से अनाज को अलग करने का प्रसंग रहता था। यदि वह खंभा मजबूत नहीं हो तो बैल घूम नहीं पायें। वह श्रावक मेढ़ीभूत था, चक्षुभूत था। चक्षुभूत का तात्पर्य है-दिशा बोध देने वाला था। श्रावक भी मेढ़ीभूत चक्षुभूत बनता है और अनेकों का मार्गद्रष्टा बन कर जीता है। वह परिवार तक ही सीमित न रह कर समाज के बीच, समाज को भी परिवार मानकर, व्यापक दृष्टि लेकर चलता है। वह वसुधैव कुटुम्बकम् के भाव लेकर चलता है। वह जैसे-जैसे स्वयं को व्यापक बनाता है वैसे-वैसे उसके जीवन में आनन्द की वृद्धि होती जाती है।

बुद्ध के सामने उस शिष्य ने सूची रख दी। बुद्ध ने कहा - देख लो, मांग किस-किस रूप में सामने आई है। जब सब परिवार धन ही मांगते हैं तो शांति सुख की मांग कितनी सच्ची है, हम स्वयं ही समझ लें। आपने सुनी है पूणिया श्रावक के सामायिक की कीमत? दैनिक सामायिक की कीमत क्या लगाई जा सकती है ? कहने के लिये कहा जा सकता है कि ११ रुपये में सामायिक हो

सकती है। यह कैसे ? ५ रुपये की पछेवड़ी, २ रुपये का आसन, १ रुपये की माला, १ रुपये की मुंहपत्ति, २ रुपये की पूंजणी आनुपूर्वि आदि, इस प्रकार ११ रुपये में सामायिक हो जायेगी। पूणिया श्रावक की सामायिक के लिए भगवान् ने पूछा श्रेणिक से-तुम्हारे पास कितना धन है ? श्रेणिक ने कहा-मेरे खजाने के धन से तो ५२ डूंगरिया (मगरियां) वन सकती हैं। भगवान ने कहा-"इतना तो उसकी दलाली में भी पर्याप्त नहीं है।" यह क्यों कहा ? यह हमने सुना है। पर क्या हम विश्वास करते हैं ? हमें उसकी अनुभूति हो रही है या नहीं ? श्रद्धा से भले सुन लें पर मानने को तैयार नहीं होंगे। कहेंगे इतनी कीमत होती तो आज हमारे घर में धन का ढ़ेर लगा होता। दलाली की क्या वात हम तो स्वयं करते हैं। दलाली में इतना, तो स्वयं करने में कितना मिलेगा। पर नहीं लगता, तो इसका कारण है- सामायिक रूटिन के रूप में की जाती रही है। भगवान ने हर किसी की सामायिक की कीमत नहीं बताई, पूणिया श्रावक को भी कुछ अनुमान वताया। हालांकि सामायिक का स्वरूप वही है पर स्पर्शना में अन्तर है। दस व्यक्ति बैठे हैं तो आराधना एक सी नहीं होगी। वताया गया है कि भगवान की सेवा में १४,००० संत और ३६,००० साध्वियां थी। उन ५०,००० साधु साध्वियों की आराधना एक समान थी या उसमें न्यूनानिधकता थी, यह कल्पना का विषय है।

वास्तव में महत्व या मूल्य तो सामायिक करने वाले के विचारों अध्यवसाय, चारित्रिक गरिमा और तन्मयता का होता है। इस संबंध में शास्त्रकार 'छट्ठाणवडिया' षट् स्थान पतित की कहते हैं। एक साधक के अध्यवसाय और चारित्र की पर्याय यदि अनंत गुण विशुद्ध हो सकते हैं तो दूसरे की चारित्र पर्याय अनंतगुण हीन भी हो सकती हैं। तीसरे में अनंतगुण तारतम्यता हो सकती है। विचार कीजिये- दस या बीस व्यक्ति बैठे हैं तो उनकी स्पर्शना पर्याय समान नहीं हो सकते। पर जहां पूणिया श्रावक की सामायिक का वर्णन है वहां बतलाया गया कि ५२ डूंगरी धन भी कम था। तब समझें कि एक

सामायिक के बाद उसे शांति, सुख की अनुभूति होती थी या नहीं ? सामायिक कर लें फिर भी जीवन में आनंद न आये, क्या ऐसा हो सकता है ? उस अमृत की एक दो घूंट श्रद्धा और समर्पण से नहीं पी लें तो सामायिक में वह आनंद, मजा या उसके प्रति विश्वास कैसे बनेगा ? सामायिक पोशाक को न मानें। पोशाक उज्ज्वल भी हो सकती है और मलिन भी। मैली-कुचली भी हो सकती है। कम ज्यादा सफेद भी, पर ये तो लिंग प्रयोजन के लिए है पर देखने की बात यह भी होती है कि अंतर की भावना किस रूप में है। पूर्णिया श्रावक के लिए कथा में बताया गया है कि एक दिन उनकी चित्तवृत्ति सामायिक में केन्द्रित नहीं हुई। रोज केन्द्रित हो जाती थी, क्योंकि सामायिक में आत्मभाव-समभाव की उपस्थिति रहती थी। अथवा आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः, एवं 'सव्वभूयप्प भूयस्स' की भावना उसमें रहती थी। सामायिक में सावद्य योगों का प्रत्याख्यान कर लिया तो जो पाप आने के कारण है, मार्ग हैं, अथवा जिनसे वह अशांत होता उनसे सुरक्षा हो जाती है। क्योंकि मैंने पहले भी कहा है कि अशांति के कुछ कारण होते हैं। ये कारण हैं-सावद्य मन, सावद्य वचन, सावद्य काया की प्रवृत्ति। सावद्य से तात्पर्य है-जिसके भीतर पाप का विचार है। जब तक उससे व्रत-प्रत्याख्यान से संवर में नहीं आते तब तक वे खुले रहकर निरन्तर पाप उपार्जन में लगते हैं। उससे व्यक्ति दुःखी होता है और चाहते हुए भी सुपार्श्वनाथ भगवान को वन्दन नहीं कर पाता। वंदन करना है तो पहले नमन की स्थिति प्राप्त करनी होगी। नमन कब होगा जब मन में ऋजुता हो। सरलता नहीं है तो वंदन नहीं बन पायेगा। इस प्रकार सावद्य योगों के रहते हुए वह अशांति के झूले में झूलता रहेगा और आत्मभाव में उपस्थित नहीं हो पायेगा। उस दिन प्रसंग बना तो पूर्णिया श्रावक ने अन्तरावलोकन किया अथवा यों समझिये कि स्वीच ऑन करके पिक्चर देखने लगा। उसने देखा अपने हार्ट का चित्र। जैसे किसी की बाई-पास सर्जरी हो तो डॉक्टर ७२ घंटे तक उसके हार्ट का चित्र देखता है। यदि वह ७२ घंटे तक ठीक है तो फिर वह

खतरे से बाहर मान लिया जाता है। निरन्तर देखते हैं कि कहीं गड़बड़ी तो नहीं है, वैसे ही पूर्णिया श्रावक आत्म आलोचना के रूप में चित्तवृत्ति का निरीक्षण करने लगा।

आलोचना का तात्पर्य है-'**आलोक्यते लोचन**' अर्थात् देखना कि मेरे चित्त-विभ्रम के कारण क्या हैं, वह चंचल क्यों बना है, इस प्रकार अन्वेषण करने लगा तो लगा कि मेरे से ही तो कहीं त्रुटि नहीं हुई है ? कारण समझ में आ गया। सामायिक में मन चल-विचल बना था। हमारे साथ परेशानी यह है कि हम कारण की खोज नहीं करते, ऊपर-ऊपर से ही देखते हैं। कभी सोचते हैं क्या कि अशांति आई कहां से ? मार्ग कौन से हैं ? मार्गों का अन्वेषण करेंगे तो हमें सूराख मिलेंगे। उन्हें बंद कर दें तो पुनः शांति में जी सकेंगे। पूर्णिया श्रावक को कारण नहीं मिला तो अपनी पत्नी से पूछा। जरा सोचिये कि एक तरफ तो हम कहते हैं-"जो करता है सो भरता है" तब वह पत्नी से क्यों पूछ रहा है ? जो करता है वही भरता है फिर पत्नी ने अपराध किया तो पति पर लागू क्यों हुआ ? एक की त्रुटि का दूसरे पर असर क्यों ? इसलिये कि वह अनुमोदन भी करे तो पाप होता है। यदि एक व्यक्ति स्वयं पाप न करे परन्तु नौकर को आदेश दे कि पेड़ काटकर लाओ, पानी गिराओ, जमीन खोदो, तो वह भी पाप होगा। किसी ने स्वयं नहीं किया, करवाया नहीं, केवल अनुमोदना किया तो भी पाप होगा। श्रावक के लिए कहा गया है २ करण ३ योग से सामायिक करता है, अनुमोदन उसका खुला है। पत्नी से पूछा तो उसने बताया-मैं आग पड़ोस से लाई, आग के लिए तो पूछा पर छाने के लिए नहीं। छाने के लिए क्या पूछना-अपना घर, पड़ोसी का घर एक ही तो है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। इस प्रकार एक विषैला क्रम प्रारम्भ हो जाता है। आज छाणा लिया कल तिजोरी खुली है वहां से कुछ लेंगे, क्योंकि अपना घर और पड़ोसी का घर एक ही तो है। या आपके घर से वह कुछ ले जाय, घर एक ही तो है तो क्या कोई विचार तो नहीं आयेगा ? कहने का आशय है- अशांति का कोई कारण होता है।

शांति तो मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है, उसके पास में है भी पर वह बाहर-बाहर ढूंढता-घूमता रहा है। ऐसी अवस्था बन गई है जैसी कस्तुरी मृग की होती है-"कस्तूरी का मिरग ज्यों फिरी-फिरी सूंघे घास।" या "माने तो घट-घट में भगवान है, पर दुनिया देखे नाँहि।" उसे पता ही नहीं कि उसी के पास सुख है और वह इधर-उधर ढूंढ रहा है।

एक भिखारी गले में ताबीज बांधे घूमता था। पास में फूटी कौड़ी भी नहीं थी। दिन भर घूमता और जैसे-तैसे गुजारा करता। एक दिन मन में आया कि इस ताबीज के कारण ही मैं दुःखी हूँ। उसे तोड़ा तो उसमें उसे एक रत्न मिला। कुछ आगे बढा, पुण्य का योग समझिये, जैसे ही एक जौहरी के पास लेकर पहुँचा उसने बताया यह तो कीमती लाल है। लाखों की कीमत है, पर अभी मेरे पास सिर्फ एक लाख ही है, कहो तो गिन दूं। कीमत कितनी भी हो पर एक लाख तो अभी मिल रहे हैं और वह है कि एक लाख रूपये गले में लिये फिर रहा है पर पता ही नहीं, भरोसा ही नहीं। यदि लाख रूपये मिल जांय तो क्या नहीं होगा ? पर जब तक पता नहीं था तो बाहर घूम रहा था।

पूर्णिया श्रावक को शांति का जो अनुभव होता था वह हमें भी हो सकता है, यदि लेने की तैयारी हो। जो एक बार अमृत पी लेता है, कहते हैं वह अमर हो जाता है। इस शरीर के रूप में हो या नहीं पर जिसने एक बार शांति सुधारस पी लिया उसे फिर काम, क्रोध आदि की ज्वालाएं झुलसा नहीं सकेगीं। एक घूंट ही ले लें तो फिर वे उसे सता नहीं पायेगी। जब तक काम क्रोध की ज्वालाएँ जल रही हैं तब तक अशांति बनी रहेगी। पत्नी ने अपराध किया यदि पति भी उसका पोषण करे तो वह भी उसका भागी हो जाता है और तब वह कारण जाने बिना भी विभ्रम में अशांति से डोलायमान अवस्था में रहता है। पत्नी ने पूछा-"अब इस विषय में क्या करूँ ?" उसने कहा- तुम जाकर क्षमा मांगो। भूल का पश्चाताप करो, आलोचना आदि से शुद्धिकरण कर लो। शुद्धिकरण कर लिया तो आगे आने

वाली सामायिक में चित्त शांत रहेगा। ऐसी स्थिति में एक मुहूर्त की जो सामायिक होगी उसकी कीमत पैसों में नहीं आँकी जा सकेगी।

इसलिए भगवान ने कहा-५२ डूँगरी भी दलाली में कम है। समभाव खरीदने से मिलेगा क्या ? किसी के भीतर समभाव है और कोई कहे कि मुझे दे दो तो वह दे पाएगा क्या ? समभाव तो भीतर से प्राप्त करना होता है। बाहर वह मिल नहीं पाएगा। यह अवश्य है-उसके निमित्त से, संगति से तुम्हारे भीतर भी उसका प्रसंग बन जाये। तब शांति का प्रवाह फूट पड़ेगा। कवि ने कहा है- सुपार्श्वनाथ भगवान की वंदना की जाय और प्रभु ने कहा है-णाणस्स सव्वस्स पगासणाए...। उस ज्ञान को प्रकट करो जो अज्ञान और मोह से ढ़ँका है। उसे प्राप्त करना है, तो वह होगा सरलता से ही। "सोही उज्जुय भूयस्स...।" जब तक सरलता नहीं आयेगी तब-तक ज्ञान प्रकट नहीं होगा। अज्ञान के कारण ही अशांति है, वही शांति के उस स्रोत को रोक रही है। अज्ञान की परतें हटीं कि शांति की लहरें आने लगेंगी जैसा पूर्णिया श्रावक के साथ हुआ। जैसे ही उसने अशांति के कारण को दूर किया, चित्त शांत हो गया। वैसा ही आनंद हमारे जीवन में भी आ सकता है और वह सदा-सदा के लिये विद्यमान भी रह सकता है। ऐसा स्वरूप हमारे भीतर ही है पर वह प्रकट होगा हमारे ही प्रयासों से। यह बात यदि समझ ली जाय तो शांति सुधा का स्रोत स्वतः ही फूट पड़ेगा और उसमें अवगाहन कर हम धन्य हो जायेंगे।

□□

5. मंगलमय जीवन का मंत्र

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए....।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को सम्बोधित करते हुए जो देशना दी, उस देशना को हृदयंगम करना तो अपेक्षित है ही, परंतु उसे हृदयंगम करके ही नहीं जाना है। उसके अनुसार स्वयं के जीवन को ढालना प्रमुख और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, यह देशना हमें जीवन जीने के वैसे ही संकेत देती है जैसे चिकित्सा के क्षेत्र में E.C.G. की कुछ लाइनें स्वास्थ्य से संबंधित संकेत देती हैं। उसके स्पेशलिस्ट डाक्टर उन संकेतों को पकड़कर ही नहीं रह जाते बल्कि उनके माध्यम से हृदय की स्थिति का पता लगाते हैं कि वह किस गति से चल रहा है और रोग का उपचार करते हैं। वैसे ही तीर्थंकरों के उपदेश आध्यात्मिक E.C.G. है अतः उनके सन्देश व संकेतों का हम केवल उच्चारण करके ही न रह जांय और बहुत सुन्दर बात कही है, यह कहकर ही संतोष की अनुभूति न कर लें, बल्कि उनके अनुसार आचरण भी करें। यह कह कर ही न रह जाय कि तीर्थंकर देवों ने जो देशना दी है वह संसार सागर से तिराने वाली बहुत सुन्दर देशना है। यह तो वैसी ही बात होगी कि नदी में नौका पड़ी देख कर हम कहें कि नौका बहुत सुन्दर है और पार उतारने वाली है। सोचिये कि यदि हम किनारे ही खड़े रहे तो क्या पार हो जायेंगे ? नौका सुन्दर है, बहुत अच्छी है पर जब तक उस पर आरूढ़ न हों, उस पर आरोहण नहीं हो, केवल देखकर प्रशंसा करते रहें तो दूसरे किनारे पहुँचना संभव नहीं है। वैसे ही तीर्थंकर देवों की देशना सुन्दर है, हम यह मानते रहे हैं, समझने का प्रयत्न करते रहे हैं पर इतने मात्र से वह आनन्द, शांत सुधारस प्रकट करने वाली नहीं हो जायेगी। वह तो जब स्वयं संकेतों को जानकर जीवन में उन्हें ढालने या उनके अनुसार जीने का प्रयत्न करेंगे तभी उनका

आनंद उठा पायेंगे। वस्तुतः जीवन में जो आनंद शांत सुधारस भरा पड़ा है तभी वह आत्मा को उपलब्ध हो पायेगा। शांत सुधारस पर आवरण पड़ा हुआ है, वैसे हम कह देते हैं आठ कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है। आठ कर्मों से निष्पन्न कार्य, वह भी हमारे शांत सुधारस पर आवरण रूप बना है अथवा यों कहूँ-जिसके कारण वह झरना रूका पड़ा है, ऐसे पत्थर पड़े हैं जिन्हें जब तक निकाल न लें, हटा न लें, तब तक उस स्रोत को प्रवाहित नहीं कर पायेंगे।

पूज्य गुरूदेव एक दृष्टांत देते हैं कि एक भूगर्भवित्ता के निर्देश से एक कुआं खोदा गया। उसने बताया था कि ४० फीट खोद लो तो पानी की शिराएं आ जायेंगी। ४० फीट, ५० फिट तक खोद लिया गया पर पानी नहीं आया। किसान सोचने लगा-मैं तो ठगा गया। उसने पुनः भूगर्भवित्ता को बुलाया और कहा कि मैंने इतना खोदा पर पानी नहीं निकला। भूगर्भवित्ता ने खुदाई को देखा तो पाया एक जगह पत्थर बाहर निकला हुआ था, वहाँ पूरी खुदाई नहीं हो पाई थी। उसने कहा, उसे हटाएं, पूरी खुदाई करें। जब उसे हटाया गया तो पानी की शिराएं प्रवाहित होने लगीं, पानी बहने लगा। कुआँ भरने लगा। बंधुओं ! वैसे ही हमारे जीवन का जो आनंद है, शांत सुधारस का जो सागर लहरा रहा है, उसकी शिराएं हम प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं ? कवि आनन्दघनजी की भाषा में कहें तो-

सात महाभय टाल लो, सप्तम जिनवर देव ललना...।

सात महाभय उस द्वार को अवरूद्ध करते हैं, इस कारण वे शिराएं प्रवाहित नहीं होतीं। सात महाभय माने गये हैं-इहलोक भय, परलोक भय, कामना का भय, मेरी प्रतिष्ठा रहेगी या नहीं इसका भय, अचानक कोई आघात न हो जाये उसका भय और मृत्यु का भय। ये भय मनुष्य के इर्द-गिर्द बने रहते हैं। अन्तर्मन में इनका यदि किसी न किसी रूप में समावेश है तो आनंद प्राप्त नहीं होगा। आपने सुना है-

"जम्म दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगाणि, मरणाणि य।"

कोई मरने की कोशिश करता है, पर मर नहीं पाता और जब मृत्यु की वेदना अनुभव में आती है तो छटपटाने लगता है कि मुझे बचा लिया जाय। मौत के नाम से व्यक्ति घबराता है, भयभीत होता है। डॉक्टर के पास रोगी पहुँचता है, केन्सर या कोई संगीन बीमारी है तो डॉक्टर उसे सहसा नहीं बताते कि तुम्हें अमुक बीमारी है। उसके परिवार के किसी सदस्य जिसका मनोबल दृढ़ हो, उससे कह देते हैं कि अब दवा लगेगी नहीं चाहे यहां रखो या घर ले जाओ। अपनी संतुष्टि के लिए इलाज भले करवाओ। वह समझ लेता है पर रोगी से नहीं कहता। यदि कह दे तो उसका मनोबल गिर जायेगा। मनोबल गिरा तो वह जीवन की आशा संजो कर जी रहा था, उसका आशा का तार टूट जायेगा और जीवन दूभर हो जायेगा। उसके सामने सदैव रोग का और मृत्यु का भय बना रहेगा, मृत्यु की छाया उसके सामने घूमने लगेगी। वह उस आशंका से भयभीत रहेगा। परिणामस्वरूप उसके जीवन का आनन्द समाप्त हो जायेगा। नहीं देखा कभी आपने ? खाट पर पड़ा हताश लगता है। उसके सामने हर समय भय होता है, जिसके कारण आनन्द का स्रोत सूख जाता है। वह लगातार भीषण तनाव की स्थिति में रहता है। स्वयं को भय से बचा नहीं पाता। भगवान ने ऐसे दुःख की जड़ को पकड़ा-वह है अज्ञान-मोह।

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ।।

जब तक अविद्या-अज्ञान जुड़ा है तब तक सारे दुःख संभव हैं। सातों भय अविद्या के अन्तगर्त ही आते हैं। यदि जीवन को समझ लिया, सम्यक्दृष्टि-भाव गहरा गया तो सात भय या अन्य अवस्थाएं हमें तकलीफ नहीं पहुँचा पायेंगी। जब तक अविद्या दूर न हो तब-तक जन्म, जरा, मृत्यु से छुटकारा न हो क्योंकि ये अवस्थाएं हमारे कर्मों के कारण हैं। जिन कर्मों का बंध जिस रूप में है उस रूप में वे तो उदय में आने वाले ही हैं। दीपक में तेल है तव तक ज्योति है, तेल समाप्त हो गया तो दीप बुझ जायेगा। दीपक कहीं

नहीं जायेगा, दीपक पड़ा रहेगा, तेल बाती समाप्त हो जायेगी। कभी बाती पड़ी भी रहे पर तेल समाप्त हो जाय तो फिर बाती किस काम की ? शरीर पड़ा रहेगा, आत्मा चली जायेगी। यह बोध हो जाय तो फिर अविद्या नहीं रहेगी, फिर जीवन का रूपान्तरण हो जायेगा, जीने की सारी आकांक्षाएं तिरोहित हो जायेंगी और जीवन में स्वाभाविक परिणमन बन जावेगा। ऐसे बोध से सम्पन्न व्यक्ति सहज अवस्था में जीने का आदी बन जायेगा अन्यथा सहज जीवन जीने का अभ्यासी बनना अत्यंत कठिन है। आज स्थिति यह है कि जैसा हमारा रूप है उसी में हम अच्छा महसूस नहीं कर पाते हैं। ऊपर की टीम-टाम मेकअप करते हैं। मेकअप तब किया जाता है जब हमें अपने स्वरूप से, अपने स्वभाव से, अपने आप में संतोष नहीं होता है। जब हम दुनियां को कुछ और दिखाना चाहते हों, वह दिखाना चाहते हों जो हम नहीं हैं। यदि बारीकी से विचार करें तो हमने यह विकार मोल लिया है। हम भय के शिकार हुए हैं। हमें भय है कि कहीं दूसरे पर इस रूप का गलत प्रभाव न पड़े। आप कहीं मिलने जाना चाहते हैं या लड़की का सम्बन्ध करना चाहते हैं और कुछ लोग आपके घर लड़की देखने आने वाले हैं और मानलो कि लड़की के वाल अस्त-व्यस्त हैं, वस्त्र ठीक नहीं हैं और वे लोग ५ मिनट के वाद ही आने वाले हैं, तो आपको भय होगा, कहीं इसे ऐसे देख लिया तो बौखला जायेंगे। आप भयाक्रांत हो जाते हैं। सोचते हैं अभी तक ऐसी ही बैठी है, क्या मुंह दिखायेंगे ? तब आप स्वयं उसे झिड़कने, फटकारने लग जायेंगे, आपे से वाहर हो जायेंगे क्योंकि जो मापदंड आपने मान लिया है या बना लिया है, उसकी जब पूर्ति नहीं दिखती तो लगता है कि यह गलत हो रहा है। जैसा हम ऊपर से दिखना चाहते हैं और चाहते हैं कि दुनियां की निगाह भी ऊपरी रूप ही देखे तो ऊपर के इस ताम-झाम, इस ऊपरी सुन्दरता में असलियत दव कर रह जाती है। ऊपर के मेकअप में तो असलियत दव जायेगी। तभी कहते हैं-

खुशवू आ नहीं सकती कभी कागज के फूलों से।
सच्चाई छिप नहीं सकती वनावट के उसूलों से।।

यह हम जानते हैं, फिर भी सच्चाई को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। भगवान ने कहा है-"सच्चं समभिजाणइ।" और हम जानकर भी आंख मूंदते हैं, सच्चाई को ढंकना चाहते हैं। क्या दिखाना चाहते हैं इस तरह ? माया को। मेकअप की माया दिखाते हैं और दुर्भाग्य यह है कि लोगों की निगाह भी ऊपरी टीम-टाम पर अड़ी होती है। यदि ऐसा न किया जाय तो लोगों को संतोष भी नहीं होगा। सेठ मोतीचन्द की रात्रि में नींद खुली, अब क्या करें? बड़े सेठों की नींद खुले तो फिर दिमाग में फितूर चलते हैं। क्या करें, क्या न करें ? उन्होंने सोचा मेरे पास संपत्ति बहुत है, मैं जानता हूँ, परिवार वाले जानते हैं पर लोगों में जो वाह-वाही होनी चाहिए,- सेठ सा.-सेठ सा. वह नहीं होती। क्या करूँ, कैसे करूँ ताकि समाज में भी थोड़ा नाम हो जाय, ऊँचा स्टेटस बन जाय ? आज तो स्टेटस भी मेकअप ही है। कहते हैं चांदी के बलबूते पर सत्य का मुंह बंद किया जा सकता है। सेठ भी चाहते हैं कि पैसे के बल पर मैं अपने आप को बड़ा मनवा लूं। चाहे गुण हो या नहीं हो। कहा भी गया है-"सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति।" सारे गुण कंचन में आश्रित हो जाते हैं। आश्रित कैसे हो जाते हैं ? जिसके पास पैसा होता है उसे वही दिखता है, अन्य बातें दृष्टि में नहीं आती। वह प्रदर्शनी लगाना चाहता है ताकि लोग उसे देखें। लेकिन उसके पीछे कौन सी मानसिकता प्रकट होती है, उस ओर उसका ध्यान कम ही जाता है। व्यक्ति चित्र या फोटो तो देखता है, पर फोटो के पीछे कलाकार की भावना क्या थी, इसे कोई नहीं जान पाता। कल्पना कीजिये कि एक फोटो है भिखारी का, जिसमें वह हाथ फैलाये खड़ा है, आप ऊपर से देख लेंगे और कहेंगे कि चित्र बहुत सुन्दर है किन्तु कलाकार ने किस स्थिति का चित्रण किया है, देशकाल की स्थिति को कैसे उभारा है? क्या इसे भी समझ पायेंगे? चित्र की आत्मा को कम लोग ही पहचान पाते हैं। सेठ के पास धन है पर लावा लेना नहीं आता।

शांत-क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय गणेशाचार्य के समय की बात है। बीकानेर के मालूजी सबसे पहले व्याख्यान में आते। छोटे से

छोटे साधु का व्याख्यान भी ध्यान से सुनते। यह नहीं कि बड़ों का सुन लिया और छोटे संत हैं, तो एक-दो भाई आकर बैठ गये। वे सबका सुनते। यदि कहीं संशोधन की अपेक्षा होती तो अलग से पहुँच कर निवेदन करते-"आपका जीवन सुन्दर है, छोटी उम्र में आप साधना में बैठे हैं। धन्य है आपने अच्छा विकास किया है, पर इतने में ही विराम नहीं लेना है, अभी तो बहुत विकास करना है। मैंने बड़े बुजुर्गों से यह बात इस प्रकार सुनी है-यह सिद्धान्त के अनुकूल है, यह प्रतिकूल है।" ऐसा निवेदन करते। श्रावक माता-पिता के समान भी होते हैं, भाई के समान, मित्र के समान और खर कंटक के समान भी होते हैं। पैर में कांटा गड़े तो क्या स्थिति बनती है ? हमें किस श्रावक का विरुद लेकर चलना है ? आपसे कोई कहे कांटे के समान हो, तो क्या अच्छा लगेगा ? भाई और मित्र में भी जितनी आत्म संतुष्टि नहीं होगी उतनी माता-पिता के विरुद में होगी।

'अम्मापिउ समाणा' यह विरुद मिले तो मन में सात्विक भाव आते हैं कि हमारे भीतर गुणों की श्रृंखला है। पर कह देने मात्र से तो नहीं बन जाओगे। क्योंकि भीतर जिस प्रकार की वृत्ति है, उसका मूल्यांकन तो आप ही कर सकते हैं कि हम किस कोटि में हैं। [illegible] माता-पिता की तरह निवेदन करते। व्याख्यान के पश्चात् अनेक व्यक्ति चरण स्पर्श में लग जाते पर वे एक किनारे खड़े होकर दृष्टि डालते। चेहरा दर्पण होता है, यह बता देता है कि कौन किस स्थिति में है। वे लकड़ी के सहारे आगे बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखते और पूछते आजकल कैसी स्थिति है ? यदि इतने स्नेहभाव से कोई दर्द पूछे तो व्यक्ति सारा उगल देता है। वे [illegible] चिन्ता न करो, अरे मेरे घर छाछ बहुत होती है, गायों की [illegible] है, बच्चों को भेज दिया करो और जब बच्चे [illegible] दरवाजे के पास से उठते, हाथ में बर्तन लेकर अन्दर [illegible] उसमें मुट्ठी भरकर सिक्के डालते, उस पर छाछ डालकर [illegible] और कहते-देख, यह बर्तन अपने

माता-पिता को ही देना। घर जाकर बच्चा जब माँ को देता और बर्तन खाली किया जाता तो खन-खन सिक्के निकलते। जब वे वापस लौटाने जाते तो कहते घणोई कचरो है, ले जा। किसी से मत कहना। स्वयं भी कहीं चर्चा नहीं करते। आज तो थोड़ा सा देंगे तो बखान बहुत करेंगे और पुण्यफल की कामना करेंगे।

एरण की चोरी करे, और करे सुई का दान ।
ऊपर चढ़ हाको करे, कद आसी विमान ।।

सुई का दान करके भी यदि ढिंढोरा पीटा जाता है तो कोई भी व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा पर आंच लगाकर आपसे लेने की स्थिति में नहीं रहेगा। तब स्वधर्मी का विकास कैसे करें ? आगम के धरातल पर सोचें तो ज्ञात हो सकता है।

मैं तो सेठ मोतीचंद की बात कर रहा था। साथ में मालूजी की बात इसलिए कह गया कि वे धन था तो देने की स्थिति में थे। इधर सेठ मोतीचन्द देने की स्थिति में था पर उसके पीछे प्रदर्शन का भाव था कि मेरा नाम हो। यह बात तो सहज ही समझ में आ जाती है कि जहाँ देने का प्रसंग है वहां नाम तो अपने आप हो जायेगा। धर्मशाला, स्कूल, अस्पताल आदि में मुक्त-हस्त दान दें तो नाम अपने आप ही हो जायेगा, आप चाहें या न चाहें, फिर भी हो जायेगा। पर जो स्वभाव में जीता है वह इसकी चाह नहीं रखता। सेठ ने सोचा-नाम करना है तो थोड़ा खर्चा तो करना पड़ेगा। व्यक्ति विज्ञापन करता है ताकि माल चल जाय और यदि हजार बार किसी उत्पादन का नाम सुन लें तो अपने घर क्यों नहीं लायें। फिर वह नाम मुँह पर चढ़ जाता है। मुँह पर भी तब चढ़ता है जब पहले मस्तिष्क में जम जाता है।

सेठ ने ऐसा ही कुछ करने का विचार किया। प्रातः काल सभी पारिवारिक सदस्यों को इकट्ठा किया और उनसे कहा कि अपने घर में इतनी संपत्ति है पर लोगों की निगाह में नहीं है, कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये के अपनी सम्पन्नता लोगों की निगाह में आ जाय।

सभी ने कहा-आपकी बात अच्छी है पर इस संबंध में आपने क्या सोचा है ? सेठजी ने उत्तर दिया-मैंने सोचा है कि राजा को निमंत्रित करें और हॉल में सारी संपत्ति सजा दें। जब राजा की निगाह में आ जायेंगे तो आगे का कार्य अपने आप सम्पादित हो जायेगा। राजा ने मान दे दिया तो दुनियां अपने आप सलाम करने लग जायेगी। छोटी बहू चुप बैठी थी। सेठ ने पूछा तुमने हां नहीं की, तुम भी कुछ बोलो। उसने कहा-आप बड़े हैं, मैं क्या बोलूं पर सुनना चाहते हैं तो मेरी निगाह में राजा को नहीं बुलाना चाहिए। वह खतरे की घंटी है। सेठ मोतीचंद ने उसे झिड़कते हुए कहा-"तू क्या जाने ? आखिर तू छोटी जो रही। बुद्धि भी छोटी है।" बहू ने विनम्रता पूवर्क कहा-मेरे दिमाग में आई जो बता दी। सेठ की योजना के अनुसार राजा को निमंत्रण दिया गया। राजा आ गये। सारी सम्पत्ति हॉल में सजी थी। स्वर्ण का थाल, चांदी की कटोरी, षटरस भोजन जिसकी लपट से ही भूख खुल जाय, पर राजा कौर मुंह में नहीं रख पा रहा था। निगाहें सम्पत्ति पर थी। जैसे-तैसे भोजन किया और महलों में लौट गया। पलंग पर राजा लेटा तो था पर नींद नहीं आ रही थी। उसके दिमाग में उथल-पुथल चल रही थी। सेठ के घर इतनी सम्पत्ति का क्या काम ? विचार चलते रहे। रात्रि तो हो गई थी फिर भी दीवान को बुलाया गया। राजा ने उसे बताया कि आज मेरे मन में चैन नहीं है। दीवान ने कहा-हुजूर मै बीमारी जानता हूँ। अरे भला तू क्या जानता है ? दीवान आपका ही हूँ। यदि आपके मनोगत भाव न जानूं तो दीवान कैसा ? भगवान ने कहा है- 'आणानिद्देसकरे' पास में रहकर जो इंगित-आकार को न जाने तो फिर उसने क्या जाना ? पास रहकर यदि मैंने इतना भी नहीं जाना तो मैं दीवान पद का अधिकारी नहीं हो सकता। "मैने तो बताया नहीं तू ने क्या जाना ?" "हुजूर मैंने बीमारी जान ली है और उसका इलाज भी ढूंढ लिया है।" "अच्छा, क्या जाना और क्या विचार किया है, मैं भी तो जान लूं।" "अब आप मेरे मुँह से ही सुनना चाहते हैं ?" "हाँ-हाँ, बता तूने क्या

सोचा है ?" "यह तो आपके सोचने की बात है। आप चाहते हैं कि सेठ मोतीचंदजी की सम्पत्ति हुजूर के कोष में आ जाय।" राजा सुनकर आवाक् रह गया। "कैसे पकड़ लिया तूने ?" "राजन् मैंने आगे का बंदोबस्त भी कर लिया है। इलाज मेरे पास है। वैसे तो आपको अधिकार है चाहे जिसकी संपत्ति अपने अधिकार में ले सकते हैं, पर ऐसा करने से जनता में असंतोष पैदा होगा। इसलिए काम ऐसा करें कि-"रोटी खाना शक्कर से और दुनियां ठगना मक्कर से" ऐसा करें कि लोगों को मालूम भी न पड़े और अपने आप ही सम्पत्ति आ जाय।" "ये कैसे हो सकेगा ?" "आप सेठ को ससम्मान बुलाइये और कहिये कि नगर में ऐसे सेठ हैं हमें तो आज तक मालूम नहीं था और इस पर भी यदि हम आपका सम्मान न करें तो यह औचित्य पूर्ण नहीं होगा। हमारे यहां नगर सेठ का पद खाली पड़ा है, मैं चाहता ही था कि किसी प्राणवान सेठ को उस पर मनोनीत करूं। यह बात कह कर कुछ कठिन प्रश्न पूछ लीजिये। यह धनवान है पर बुद्धिमान नहीं है। और बुद्धि नहीं है, तो धन भी टिक नहीं पायेगा। वह प्रश्न का उत्तर न दे सके तो कह दीजिये कि तुम्हें धन रखने का भी अधिकार नहीं है, यह धन सरकार का है।"

राजा ने बुलवाया तो सेठ मोतीचंद की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। टेढी निगाह से देख कर जताने लगा कि तीर निशाने पर लगा है। राजा ने पालकी भिजवाई है। कितनी प्रफुल्लता आ जाती है जब आपको किसी सभा में मुख्य अतिथि बनाया जा रहा हो, घर में गाड़ी आये और लोग पधारो सा-पधारो सा करें। तब तो चाल-ढाल में अन्तर आ जाता है, पैर भी जमीन पर धप्प-धप्प करते पड़ते हैं। अतिउत्साह और अतिप्रसन्नता में ऐसा भी होता है कि पहले से कुर्ता पहन रखा है और जाकेट के स्थान पर कभी गंजी, कभी बनियान पहन लेते हैं। ज्यादा खुशी हो तो पता नहीं चलता है क्योंकि निगाहों में मंच होता है। ध्यान होता है कि वहां तो सिंहासन लगा होगा, वे स्वागत करेंगे ! माल्यार्पण करेंगे !! वही सारा दृश्य आंखों में तैरता रहता है। व्यक्ति उसी में पागल बन जाता है। सेठ

की ऐसी ही हालत हो गई। सेठ ने सुन्दर पोशाक सजाई। सोच रहा था-अभी तक तो मैं और मेरा परिवार ही जान रहा था अब तो सारी नगरी जान लेगी कि सेठ मोतीचंद भी अपने आप में कोई विभूति है। वह राज-सभा में पहुँचा। राजा ने नगर सेठ बनाने की बात कही और दो प्रश्न भी रख दिये। राजा ने कहा- देखिये, नगर सेठ का पद देने के पूर्व हमें कुछ औपचारिकताओं का निर्वाह भी करना होगा ताकि कोई इस नियुक्ति पर अंगुली न उठाये। आपको दो प्रश्नों का उत्तर देना होगा, उत्तर मिल गया तो हम दुनियां से कह सकेंगे कि ये प्रतिभावान हैं इसलिए इन्हें यह पद दिया गया है। अतः प्रश्नों का उत्तर विवेकपूर्वक दीजिये। पहला प्रश्न था-निरन्तर घटने वाली क्या है और दूसरा निरन्तर बढने वाली क्या है ? सेठ विचार में पड़ गया, ये तो मेरे ज्ञान कोष में नहीं है ! सारी खुशियां मायूसी में बदल गई। सोचने लगा-ये क्या हो गया ? घर आये, पर चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी।

सात महाभय टाल तो .....।

बतलाया गया कि सातवें देव सात भय टालते थे, हम भी उसी को टालने में लग जायं। पर हम भय टालते नहीं बल्कि वह कैसे बढ़े, उसके लिए ईंधन इकट्ठा करते हैं और फिर सोचते हैं कि आग न लगे। तब ईंधन इकट्ठा किया क्यों ? और किया है, वह पड़ा रहेगा तो कभी आग भी लग सकती है। ऐसे विचार बनेंगे तो व्यक्ति को चैन नहीं पड़ेगा, उसकी नींद उड़ जायेगी। ऐसी ही दशा सेठ की हो गई। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति भयाक्रांत हो जाता है कहीं मेरी प्रतिष्ठा न चली जाय इस विचार से भय दुगना हो जाता है। यह कब होता है? तब, जब हम मेक-अप में हों। मेकअप नहीं हो तो फिर मैं जैसा हूँ वैसा हूँ। वैसा ही लोग मुझे समझें तो चिन्ता की क्या बात है।

विवाह संबंध तय होने में कभी ऐसा भी होता है कि प्रस्तावक पड़ोस की दूसरी कन्या दिखा देता है और शादी दूसरी के साथ करा

देता है। पर सच्चाई कब तक छिप सकती है ? मान लीजिये आपने हथलेवा जोड़कर शादी भी करवा दी, वह ससुराल भी पहुँच गई, पर क्या वह सुखी रह सकेगी, संतोषपूर्ण जीवन जी सकेगी ? उसके बाद क्या उसे पीड़ा नहीं होगी ? आपने तो बहुत समझा भी दिया था कि तू मुंह मत खोलना, नहीं तो सच्चा रूप प्रकट हो जायेगा। दो वर्ष घूंघट में निकाल लेना फिर तो बात आई-गई हो जायेगी। पता नहीं चलेगा।

आज तो हवालाकांड होते हैं, अटैची कांड होते हैं, जब तक बुरका है पता नहीं चलता, पर ऐसे कांड करने वालों को डर कितना होता है ? भले नाम संकेतों में लिख लें, पर संकेत पढ़ने वाले भी मिल जाते हैं। चोर यदि चोरी करने में होशियार रहता है तो पकड़ने वाले भी तो कम होशियार नहीं होते। ये डाल-डाल तो वे पात-पात। वे उनके भी एक-एक स्रोत पकड़ने वाले होते हैं, चोरी छुप नहीं सकती। कभी कहते हैं कि- "सौ दिन सुनार के तो एक दिन लुहार का।" यदि सौ दिन चोरी चली पर सौ दिन में जितना खाया, एक दिन उतना सब उगलना पड़ सकता है। देर हो सकती है कुदरत में, पर अंधेर नहीं। यहां पकड़ में न आये पर नरक में तो नहीं बचेगा। कर्मों से तो किसी का रिश्ता-नाता नहीं होता। कर्म नहीं सोचेंगे कि ये राजा है, मंत्री है या साधु है अतः इन्हें बख्श दूं। कर्म छोड़ेंगे नहीं, इसीलिए कहते हैं-"जरा कर्म देखकर करिये ....." स्वयं भगवान् महावीर ने कर्म किये तो कीलें ठोकने कौन आगे आया ?

"कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।"

"जा जा क्रिया सा सा फलवती।"

चाहे कर्म प्रकट रूप में करें या छिप कर करें, पर फल से बचा नहीं जा सकता। दिआ वा, राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा....। चाहे दुनियां से छिपालो, कितने ही छिप जाओ पर सिद्धों से, अन्तर-आत्मा से नहीं छिपा सकते। अन्तर आत्मा कहती है-अहो, मेरे से छिपा रहे हो ! तुम आंख पर पट्टी बांधकर सोचते हो कि किसी की दृष्टि न पड़े, पर मूढ़, मैं सारा देख रहा हूँ।

तुमने क्या किया है। औरों से छिपाकर करना चाहते हो पर आत्मा से या परमात्मा से कुछ नहीं छिपा सकते। जिस समय वे ऐसे कृत्य करते है अरिहंतों को, सिद्धों को भुला देते है। यदि अरिहंतों और सिद्धों को मानते होते तो कभी छिपाकर ऐसे कार्य नहीं करते।

सेठ मोतीचन्द निढ़ाल होकर पड़ गया, जो ईंधन इकट्ठा किया था वह सुलगने की तैयारी में आ गया था। कहते हैं 'चौबेजी छब्बेजी बनने चले, पर रह गये दूबेजी" की ऐसी हालत हो गई। राजा ने कहा था यदि प्रश्न का उत्तर न दे सकेगा तो ५ करोड़ सौनेया उसकी एवज में वसूल करूंगा। उसे तो दिन में तारे दिखने लग गये। कभी कहते हैं कि-पंचेन्द्रिय के दस प्राण होते हैं पर कंजूस के ११ प्राण होते हैं और ग्यारहवां प्राण है धन। वह तो कहेगा धर्म जाये तो जाये, पर धन नहीं जाना चाहिए। आज इस प्रकार के उसूलों वाले कितने ही मिल जाएंगे और ऐसे विचारों वाले भी कम नहीं हैं कि भले ही धन चला जाय पर धर्म नहीं जाना चाहिये। धर्म की खातिर सेठ सुदर्शन सूली पर चढ़ गये और राजा हरिश्चन्द्र चाँडाल के घर बिक गये। यदि धर्म चला जाय तो जीवन मृतवत् रह जायेगा। पर आज धर्म नहीं धन चाहिए। लोग सोचते हैं कि धन होगा तो धर्म कर लेंगे।

"आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति"- आपत्तिकाल है तो मर्यादा का बाई पास कर लें। जैसे डाक्टर सर्जरी करता है और हार्ट बिठा देता है। पर धन चला जाय तो वापस कब मिलेगा, पता नहीं। परन्तु यदि पास में पूंजी है तो सामायिक तो दो दिन बाद ही कर लेंगे। यह भी चलेगा क्योंकि धर्म तो हमारे मन का है। पर याद रखें कि यदि एक बार चोर-मार्ग निकाल लिया तो आगे से आगे वैसा ही मार्ग बनता चला जावेगा। पर दुनियां यह तो देखती नहीं, उसे चाहिए मंच, उसे चाहिए प्रदर्शन। यदि एक बार मंच मिल गया तो मानो स्वर्ग की सीट मिल गई। यहां ही स्वर्ग मिल जाय तो फिर स्वर्ग में जाने की क्या आवश्यकता ? एक भाई ने कहा कि मैं पांच हजार दे देता हूँ और मंच पर नाम आ जाता है। लोगों का कौम निकल जाता है, फिर

भेद कर पाने का विवेक नहीं होता। इसलिए दूध लाई हूं ताकि बुद्धि विकसित हो। सेठ ने देखा-है तो तेज तर्रार। सेठ तो कहीं के कहीं रह गये। उन्हें लगा कि यह जवाब तो दे देगी क्योंकि उसमें न भय की स्थिति थी, न बुद्धि के थोथे प्रदर्शन की। वह तो पूर्ण सहज एवं स्वाभाविक अवस्था में थी। राजा ने कहा-प्रश्नों का उत्तर दो। उसने कहा- निरन्तर घटती है आयु और बढती है तृष्णा। आपके पास इतना कोष है, फिर भी पराई सम्पत्ति हड़पने के भाव पैदा हुए। यह है तृष्णा। पर आयु का तेल निरन्तर जलता जा रहा है। राजा के मुँह से "साधु- साधु" निकल गया। उसने अत्यंत स्नेहपूर्वक कहा-जिस घर में ऐसी बुद्धि वाला हो, वहां हम हाथ नहीं डाल सकते। आप कथा सुन गये पर आपको मिला क्या ? हम पढ़ते हैं, सुनते हैं, चित्र देख लेते हैं पर इनके पीछे भाव, उनकी आत्मा के हार्द को नहीं लेते। सेठ के विषय में भी विचार आये होंगे, पुत्रवधू पर भी विचार किया होगा, पर आत्मा पर विचार बना या नहीं ?

आज हम कैसे प्रदर्शनप्रिय समय में जी रहे हैं, इसका एक उदाहरण दे दूं, जिसकी मुझे जानकारी मिली। एक संत जो गुरू की आज्ञा के बिना विचरण करता है, एकलविहारी है उसमें कितनी क्षमता होनी चाहिये, कैसे गुण और योग्यताएँ होनी चाहिये, इसकी विवेचना स्थानांग सूत्र में की गई है। ऐसी क्षमता वाले विरल ही होते हैं। सामान्यतः एकलविहारी कैसे होते हैं इसका उदाहरण था-वह साधु। साथ में दो भाई थे। बहुत तपस्या करते थे। जहाँ जाते लोग कहते-पारणा तो करो। कहते-क्या पारणा करना, कैसे करना ? कहीं कहते-मशीन रखवाओ तो पारणा करूँ। लोग कहते बापजी, इतना तो नहीं हो सकता। एक व्यक्ति के लिए कौन सोचे कि इसे इतना चाहिए। कहीं कहते यह रखवाओ तो कहीं कहते यह रखवाओ। फिर भी हम सोचें कि हमें क्या करना। लोग कहते-बापजी, पारणा तो कर लो। पारणा ! पारणा ऐसे थोड़ी करते हैं। हम में तो शक्ति है। पर कहते हैं-

पाप छिपाया ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग।।

आखिर में वास्तविकता सामने आ ही गई। वह दिन में साहुकार था, रात्रि में चोर। रात हमारी है, कौन देखता है। दिन में तो- अहो बापजी, कतरी तपस्या करे, व्याख्यान की छटा देखो!! और रात में वह कहता- "साधु ! (साथ वाले भाई का नाम साधु था) लाओ। क्या-क्या लाओ ?" "सेब लाओ, आम लाओ, पपीता लाओ, नारंगी लाओ ?" और जब पेट भर जाता तो कहता-जो बचा है तुम भी ले लो। और देखो ये छिलके, गुठली इकट्ठी कर लो। सब साथ ले जाते और विहार करते जंगल में परठ देते। वहीं स्थानक के बाहर नहीं डालते। कितनी सावधानी रखते थे वे। पर ऐसी चर्या तिराने वाली नहीं है। ऊपर से तपस्वी नाम धराना और रात्रि में ऐसे गुल खिलाना। ज्ञान, दर्शन, चारित्र का दिखावा, तप का दिखावा, क्रिया की प्रदर्शनी, इन्हें धर्माचरण का प्रतीक बना लिया है परन्तु ऐसी क्रियाएं आत्मा को तिराने वाली नहीं है।

आचारांग सूत्र में इस संबंध में जो कुछ कहा गया है उसे यदि पढ़ें तो कान की खिड़की खुल जाय, आंखें खुल जाय। यदि इस प्रकार का पाखण्डपूर्ण जीवन जीता हुआ वह ऐसा समझता है कि वह लम्बी तपस्या करता है, ज्ञान दर्शन चारित्र की विशिष्ट आराधना करता है तो उसका उद्धार होने वाला नहीं है। ऊपर का लेबल देखें तो बोतल पर लेबल तो है विदेशी शराब का, पर भीतर देशी शराब है। इस प्रकार का प्रदर्शन करने वाला जीवन जीने से प्रदर्शन तो जरूर हो जायेगा पर वह आत्मा के लिए किसी काम का नहीं होगा। साधु बनकर प्रदर्शन में जीते रहे तो आत्मा का उद्धार संभव ही नहीं है। कहा भी गया है-

जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारम्मि अणन्तए।।

(उत्तराध्ययन सूत्र ६(१))

अर्थात् जितने भी अविद्यावान पुरूष हैं वे अपने लिये दुःखों के उत्पादक हैं। क्योंकि जब तक अविद्या और इस कारण प्रदर्शन का

भाव विद्यमान है तब तक सारे दुःख पटल पर आ जायेंगे। जीवन में विकृति आ जायेगी। जब तक मेकअप है, ऊपर का सही चेहरा ही दिख नहीं पायेगा तो अंदर का रूप तो देख ही कैसे पायेंगे। प्रदर्शन से वह दुःख का अंबार इकट्ठा कर लेगा और संसार में भी परिभ्रमण करता रहेगा। पोशाक सजाकर तो कितनी बार साधु बन गए और मेरू जितने ओघे-पातरे का ढ़ेर लगा दिया किन्तु "गरज सरी कोनी"। क्यों नहीं सरी ? क्योंकि अविद्या बनी रही। अंदर का रूप कुछ और, बाहर कुछ दिखावा होता रहा।

मंच पर प्रदर्शन उद्धार नहीं करेगा। अविद्या बनी रही तो उद्धार नहीं होगा। आर्य क्षेत्र मिला, श्रावक का कुल मिला, वीतराग वाणी भी सुनी, हम साधु भी बन गए, परन्तु श्रावक के लिये वैसी गोटियां फिट करते रहे, चौपड़-पासे और ताश का खेल खेलते रहे तो उद्धार नहीं होगा। उन सबसे स्वयं को ऊपर उठा लें। इसीलिए कहा गया है-

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए"

ज्ञान का प्रकाश करो, अज्ञान और मोह को त्यागो तभी "एगंत सोक्खं समुवेई मोक्खं" एकान्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर सकोगे। यदि हम ऐसा मोक्ष चाहते हैं तो अविद्या के जो भांति-भांति के पटल हैं उन्हें उघाड़ना होगा। प्रदर्शन की मानसिकता भी अविद्या है। इसे भी दूर करना होगा। तभी हम शांति की अनुभूति कर पायेंगे। शांति का वह सुख हमारे भीतर लहरा रहा है। हम प्रयास करें कि उसकी शाखाएं जीवन में फूटें। इसके लिये आवश्यक है कि सात महाभयों को टालते हुए जीवन को सहज रूप में ढालने का हम प्रयत्न करें। जीवन के मंगलमय अवस्थान का यही मंत्र होगा।

□□

6. संत समागम सेतु

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए।

मोक्ष की आकांक्षा अथवा मोक्ष की अभिलाषा का भाव सम्यक्त्व-भाव की प्राप्ति के साथ ही सम, संवेग, निर्वेद से परिपुष्ट हो जाता है। संवेग का अर्थ है- सम्यक् वेग। यह सम्यक् वेग होता है मोक्ष के प्रति अनुराग। अनुराग एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। व्यक्ति का जब एक तरफ से अनुराग हटता है तो वह दूसरी तरफ किसी से जुड़ता है। जब तक संसार के प्रति, परिवार के प्रति, धन-वैभव के प्रति अनुराग है, तब तक वह मोक्ष के प्रति, धर्म के प्रति, गुरू के प्रति अनुराग तक फैलाव भी नहीं कर पायेगा। और जब तक उधर अनुराग आगे नहीं बढेगा, जीवन में व्याप्त नहीं होगा, तब तक जीवन की यात्रा विराम नहीं लेगी। विराम का तात्पर्य है विश्राम। विश्राम उस यात्रा से जो चतुर्गति संसार में हम कर रहे हैं और जिस में ही हमारी आस्था है। गति का मतलब चलने से है। चाहे काया से नहीं चल रहे हों पर मन से, विचारों से चल रहे हैं। अनेक तरंगें उत्तलित हो रही हैं। ये चलना जारी रह रहा है और आगे से आगे गति का सन्धान बनता जा रहा है। एक गति छोड़ते हैं और अगली गति से जोड़ करते हैं, संधान करते हैं, उससे विराम नहीं ले पाते। एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी गति में स्वयं को जोड़ते, संधान करते जाते हैं। इस संधि का जो हेतु है उसे जब तक नहीं तोड़ दें तब तक विराम नहीं होगा। इस स्थिति को किंचित विस्तार से समझें।

हम जानते हैं कि जहाँ दो मार्ग मिलते हैं वहाँ बीच में यदि नदी हो या नाला हो तो (यात्रा) यातायात ठप्प हो जाता है। वाहन नदी से जा नहीं सकते इसलिये वहाँ पर पुलिया का या सेतु का निर्माण किया जाता है। उसके बाद ही यातायात प्रारंभ होता है।

वैसे ही हम एक गति से ही दूसरी गति जोड़ उनमें संधि स्थापित करते चलते हैं। इसी शरीर में रहते हुए अगली गति से जुड़ने का कार्य कर लेते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले यह शरीर छोड़कर भटकते रहें फिर दूसरी गति प्राप्त करें। इस शरीर में रहते हुए यह आत्मा आगे चिन्तन कर लेती है या यों कहें कि आगे के जोड़, पुल का निर्माण कर लेती है और फिर पुल की सहायता से प्रवेश करती है, जिसमें ज्यादा समय नहीं जाता। एक, दो, तीन या ज्यादा से ज्यादा चार समय लगता है। समय की परिभाषा बारीक है। काल का निरंश अंश या जिस काल अणु के दो विभाग न हों, वह समय कहलाता है। ऐसे एक, दो, तीन या चार समय में यह जीव जुड़ने की यात्रा कर लेता है। कभी-कभी हम पूछ लेते हैं कि एक ही जीव जिसे अन्तर्मुहूर्त या मुहूर्त का समय मिले तो कितनी गतियों का स्पर्श कर लेता है ? एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट या एक सामायिक का काल। यदि कोई प्लेन से यात्रा करे तो शायद दिल्ली तक ही पहुँच पायेगा, यहाँ से कोलकाता नहीं। और उसका जीव इसी यात्रा में निकल जाये तो वह ४८ मिनट के समय में कितनी गति का स्पर्श कर सकता है ? वायुयान से जाएंगे तो गति एक मनुष्य की ही रहेगी, क्षेत्र स्पर्शना कहीं से कहीं कर लें। क्षेत्र की स्पर्शना की बात करें तो यह आत्मा अधोलोक के अंतिम छोर से उर्ध्वलोक के अंतिम छोर तक की यात्रा ज्यादा नहीं एक, दो, तीन या चार समय में पूरी कर सकता है। पर चार गति का स्पर्श करना है तो एक मुहूर्त के समय में एक जीव कर सकता है। आप आश्चर्य करेंगे कि ये कैसी बात है। क्या नारक और देव का ग्रहण हो सकता है ? उनकी आयु तो कम से कम दस हजार वर्ष है। बात समझने की आवश्यकता है। अभी जो जीव देव भव में जी रहा है और आयु पूर्ण करने की स्थिति में है तो वहाँ से तिर्यंच योनि में आकर वहाँ की आयु पूर्ण कर फिर मनुष्य योनि में जाता है। वहाँ से सीधा नरक में नहीं जा सकता, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला मनुष्य नरक में नहीं जाता। नरक में कम से कम पृथकत्व मास वाला ही जायेगा। अतः मनुष्य योनि से तिर्यंच में जाकर आयु पूर्ण कर नरक में चला

जायेगा। तो एक मुहूर्त के काल में, मुहूर्त भी बड़ा है, अन्तर्मुहूर्त में ही ४ गति का स्पर्श कर लेता है। जीव की शक्ति और यात्रा करने की फूर्ती तो देखिये। यदि उससे विराम कर ले तो क्या मिलेगा ? वह मिलता है-"एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।" जब वह मोक्ष में चला जाता है तब उसे विराम मिल जाता है। परन्तु यह जीव चार गति की जोड़ लगा रहा है, सुख के पीछे दौड़कर ही जोड़ लगा रहा है कि यहाँ सुख मिलेगा, वहाँ सुख मिलेगा, पर मिलता नहीं। सुख तभी मिलता है जब व्यक्ति उसके पीछे पड़ना छोड़ दे। सुख है तो उसकी आकांक्षा न करे, संतोष रखे और दुःख में विलाप न करे। दुःख में विलाप करता है, तो वह दुःख जो थोड़ा है उसका फैलाव ज्यादा कर लेता है, तो सुख और दूर हो जाता है।

संसार की गति को विराम देने के लिए जो साधन बताये गये हैं उनमें पंच परमेष्ठी के नमस्कार की बात प्रमुख है। उसका 'णमो लोए सव्व साहूणं' बिन्दु है और इससे ही सिन्धु में समाविष्ट होना है। कभी सोचें कि संसार की गति को विराम देना है तो ऐसा सुगम मार्ग कौन सा हो सकता है जो जल्दी से जल्दी विराम दिला दे, तो भी उस यात्रा की पात्रता तो प्राप्त करनी ही होगी। पर ऐसा कौन सा स्टीमर, नौका या जलयान है जो द्रुतगति से दूसरे किनारे पहुँचा दे और उसका किराया कितना है यह भी तो ज्ञात होना चाहिये। जाना तो सभी चाहते हैं पर किराया भी तो होना चाहिये पास में। आप यात्रा पर जाते हैं तो चाहिए उतना ही ले जाते हैं या कुछ अतिरिक्त भी पास में रखते हैं ? कहीं कुछ हो जाये तो। पर कभी जो लेकर गये वह भी चला जाय तो ? संसार में यात्रा के लिये तो आप पहले ही तैयारी कर लेते हैं। पास में न हो तो पास पड़ोस से भी जमा कर लेते हैं, न जाने क्या स्थिति बने इसलिए इतनी सम्पत्ति तो ले ही जाऊं। परन्तु एकांत सुख रूपी मोक्ष जो चार गति का किनारा है तथा उस परिभ्रमण को विराम देने वाला है, उसका किराया मौजूद है या नहीं, यह भी तो देख लें। क्योंकि ऐसे ही तो नहीं जा पाएंगे। जाने के लिए कुछ कमाई तो करनी पडेगी। कमाई कैसे करें ?

भगवती सूत्र में कहा गया है-"पुण्णकंखए सग्गकंखए" पुण्य की आकांक्षा करना, स्वर्ग की आकांक्षा करना। बात अटपटी लगेगी। क्या बंध की आकांक्षा करें, वह तो संसार में रूकाने वाला है। बंधन की आकांक्षा न करें, पर तिरने के लिए नौका की अपेक्षा तो करनी पडेगी। नौका भी है पर यदि पूंजी न हो तो क्या यात्रा कर पायेंगे? किराया तो पास में होना ही चाहिये। इस किराये के रूप में पुण्य-पूंजी आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में- शरीर को नौका की उपमा दी गई है। शरीर किससे मिलता है ?

बहु पुण्य केरा पूंजीं थीं, षुभ-देह मानव नो मल्यो ....।

यह मनुष्य तन बिना पुण्य के नहीं मिलता। पाप प्रकृति से मनुष्य शरीर का बंध नहीं होता। मनुष्य की गति, मनुष्य की आयु, मनुष्य तन, यह सब पुण्य से मिलता है। यदि यह मानव शरीर नहीं मिले तो संसार से विराम भी नहीं मिलेगा। तिरने के लिए दूसरा कोई बेड़ा, जहाज भी नहीं है। अन्य स्थितियाँ अनुकूल भी हों तो भी तिर नहीं पायेंगे। इसलिए पूंजी कमाने के लिए क्या चाहिये ? शास्त्र वचनों के अनुसार ९ प्रकार के पुण्यों का कथन आता है, जैसे अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य आदि। ये वस्तुएँ देने से पुण्य होता है। सुबाहुकुमार ने सुमुख गाथापति के भव में और सुखविपाक में दस ही कुमारों ने संसार परित्त किया, सीमित किया। किस मार्ग से किधर ? वहाँ शब्द आता है परित्तिकए। यह किया- "दव्व सुद्धेणं, दायग सुद्धेणं पडिगाहम् सुद्धेणं"। द्रव्य, दायक और प्रतिग्राहक की शुद्धि से किया। द्रव्य की शुद्धि क्या है ? साधु को क्या देना क्या नहीं देना चाहिए ? कभी सोच लें कि साधु को तो शरीर चलाना है, उसे तो साग-रोटी चाहिये, दाल-रोटी चाहिये। साधु को क्या चाहिये ये आपके सोचने का विषय नहीं है। भगवान् ने कहा है- असणं, पाणं, खाइमं, साइमं से प्रतिलाभित करें। सुमुख गाथापति वहराने से पूर्व तुष्ट हुआ, वहराते हुए और वहराने के बाद भी तुष्ट हुआ। असणं किसे कहते हैं ? जिससे पेट की भराई हो जाय। पाणं अर्थात् जिससे प्यास शांत हो। और खाइमं कहते हैं सूखा मेवा, फल आदि को। साध को मेवे से. फलों से क्या शरीर

पुष्ट करना है ? और साइमं को आज की भाषा में मुखवास के अर्थ में लिया गया है पर हकीकत में मुखवास नहीं है। हमने अपनी भाषा में ले लिया है। पर साइमं का तात्पर्य है जो असणं पाणं खाइमं ग्रहण किया है उससे वात्त, पित्त, कफ ये तीन प्रक्रियाएँ बनती है। अन्न पचता है और नहीं पचे तो वात्त, पित्त, कफ का प्रकोप भी बन जाता है। कहते हैं- 'मधुरा जायते श्लेष्मा'। मीठे पदार्थ से कफ बनता है, और खट्टे पदार्थ को पित्त बढाने वाला मान लेते हैं। पर वे पित्त को बढाने वाले नहीं बल्कि शमित करने वाले बनते हैं। यदि किसी को पित्त ज्वर है जैसे-मलेरिया ज्वर तो कोई भी चीज खाये तो उसे कड़वी लगती है। उस समय सुदर्शन वटी देते हैं जो बहुत कड़वी होती है। उसकी कड़वाहट ही कड़वेपन का नाश करती है। मुखवास केवल मुख-शुद्धि के लिये नहीं है। इस संबंध में यदि गहराई से विचार करें तो तीर्थंकर देवों का आशय ज्ञात होगा कि साइमं में जो तात्पर्य लिया है वह है लौंग, दालचीनी आदि ये प्रासुक पदार्थ हैं। ये वात्त, पित्त, कफ का शमन करते हैं। लौंग वात, पित्त, कफ तीनों के लिए उपयोगी हैं। यदि उसका अमुक-अमुक रूप से उपयोग बने। साइमं का सेवन इसलिए बताया गया है ताकि शरीर में जो अन्न-जल आदि का ग्रहण हुआ है यदि वह प्रकृति से विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाय तो शरीर के अनुरूप खाये गये पदार्थ की क्रिया सम्पादित हो जाय। ऐसा क्यों कहा गया ? इसलिये कि किसी की प्रकृति गर्म की होती है, किसी की ठण्डी की। और साधु के लिए ये तो है नहीं कि वह ११ बजे भोजन करने वाला है, तो वह कह दे १०.४५ को मेरे लिए साग फुलके तैयार कर दें। यदि संत ऐसा कहे तो क्या उसे संत मानेंगे ? आज दुनियाँ में ऐसी बात नहीं रही। आज का जमाना अलग है, भावुक जनता को महाराज मिल गये फिर क्या चाहिये और संत सोचे कि इस पोशाक में तो कितना आनंद है। कहा गया है-

माथा मुंडाया तीन गुण, मिटे मुंड की खाज ।
रोटा मिले चींकणा और लोग कहे धन महाराज ।।

हम तिरे या नहीं, पर याद रखिये पत्थर की नौका तिराने वाली नहीं है। द्रव्य की शुद्धि हो और दायक की अर्थात् देने वाले की भावना भी शुद्ध हो। यदि उसके विचारों अथवा भावों में मलीनता है तो वहाँ भी गाड़ी आगे नहीं बढ़ेगी। क्योंकि पेट्रोल की गाड़ी है और पेट्रोल नहीं मिले तो धक्का देकर कब तक चलाओगे। मोक्ष का दान है तो उसे देने वाले की भावना कितनी शुद्ध है इसका भी महत्व है। भावना शुद्ध है तो वह दायक शुद्ध होगा। द्रव्य शुद्ध अर्थात् पदार्थ रस-चलित न हो। दान तो नाग श्री ने भी दिया पर क्या वह तिर गई ? दिया तो उसने भी साधु को ही था पर द्रव्य शुद्ध नहीं था, गाड़ी नहीं चली। शालीभद्र की आत्मा ने एक बार दिया। सुमुख ने एक बार दिया और संसार परित्त कर लिया क्योंकि शुद्धि के भाव साथ जुड़े थे। दान उस वस्तु का होना चाहिये जो साधु के अनुरूप हो अर्थात् रस-चलित न हो। जैसे रोटी जो तीन दिन पुरानी पड़ गई हो, जिसमें लार पड़ गये हों, वह साधु के लिए उपयोगी नहीं है। कभी कहते हैं कि साधु को रात की बासी नहीं लेनी चाहिये। विचार कीजिये यह बात कहाँ से आयी ? यह तो स्वयं ही समझ में आ जाने वाली बात है कि यदि रोटी में लार पड़ गई तो वह ग्राह्य नहीं हो सकती किन्तु लार नहीं पड़ी तो वह भी समय पर साधु के लिये उपयोगी बन सकती है। यद्यपि पोषण का लक्ष्य नहीं है पर प्रभु ने कतिपय कारणों को ध्यान में रखकर भोजन की बात कही है। शरीर की पूरी तरह से उपेक्षा नहीं की है कि तुम्हें शरीर को देखना ही नहीं है। यदि ऐसी बात हो तो भोजन ही क्यों करें, आते ही संथारा कर लें। परन्तु ऐसी बात नहीं है। जब तप की श्रृंखला चली और जब तक साधकों ने शास्त्रों का अध्ययन किया, तब तक लम्बी तपस्या का उल्लेख नहीं मिलता। उपधान तप, आयंबिल, उपवास आदि ही किये। जब अध्ययन पूर्ण हो गया फिर लंबी तपस्या की। फिर देखा कि शरीर सक्षम नहीं, आगे चलने में समर्थ नहीं, तो संलेखना प्रारम्भ की। और संलेखना का काल यदि नहीं तो ये नहीं कहा कि साधु बनकर तत्काल संथारा कर लें। यह आज्ञा नहीं है। जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की

आराधना हो सकती है तब तक 'असणं पाणं खाइमं साइमं' की आवश्यकता पड़ती है। भोजन ग्रहण करना ही पड़ता है। कभी ऐसी बातें भी आती हैं कि फल तो साधु के लिए तैयार मिल जाते हैं। तब फल ही क्यों, यदि घी-दूध भी साधु के निमित्त वापरते हैं तो वह भी गलत है। धोवन पानी भी साधु के लिए बनाते हैं, तो वह भी गलत है। तब वह द्रव्य शुद्ध नहीं है। क्या फिर साधु पूछे तो आप झूठ बोलेंगे ? भगवान् ने कहा है-यदि साधु के लिए आरंभ करके बनाता है किन्तु झूठ बोलकर बहराता है तो वह अल्प आयु बांधता है। पुण्य संचित करके करोड़पति के घर जन्म लेगा पर २ या ४ दिन या २ या ४ माह का जीवन जीकर मर जायेगा और पुनः यात्रा प्रारंभ हो जायेगी। साधु के लिए आधाकर्मी औद्देशिक, झूठ, हिंसा के सेवन से तैयार किया तो वह तिराने वाला नहीं होगा। यदि घर में प्रासुक पड़ा है स्वयं उपयोग में ले रहे हैं और वह बहराते हैं तो अलग बात है।

युगदृष्टा युगपुरूष ज्योतिर्धर जवाहराचार्य का फरमाना था कि श्रावक को श्रमणोपासक भी कहा गया है अर्थात् श्रमणों की उपासना करने वाला, उनके समीप वास करने वाला। समीप वास करने का यह अर्थ न लें कि पास में आसन लगाकर बैठ जाय। नजदीक वास का तात्पर्य है- साधु की चर्या के अनुसार अपनी चर्या को भी व्यवस्थित करे। आप यदि स्वयं धोवन पीते हैं या सचित्त का सेवन नहीं करते हैं तो सहज ही लाभ मिल सकता है। यदि आप स्वयं खादी न पहने, सूट पहनें और साधु को खादी देकर चाहें कि साधु को वस्त्र देने का लाभ मिल जाय, तो नहीं मिल पायेगा। या फिर वह शुद्ध दायक नहीं रह पायेगा क्योंकि खरीद कर लायेगा। तब न तो वह लाभ मिलेगा, न ही वह तिराने में सहयोगी होगा। इसलिए आगम में देखिये सुमुख गाथापति की नाव तिरी क्योंकि द्रव्य शुद्ध था। रस-चलित नहीं था, निमित्त से नहीं बना था, आधाकर्मी नहीं था, क्रत नहीं था। उस प्रकार का आहार साधु को अकल्पनीय भी है क्योंकि वहाँ द्रव्य शुद्धि नहीं है।

मैं बात कह रहा था साइमं की। साधु को फलों की आवश्यकता क्यों ? क्यों लें ? दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है- "फले बीए य आमए।" जो फल पक्व है पर उसमें बीज पड़ा है, शस्त्र परिणत नहीं हुआ है। जैसे- आम पका हुआ है पर गुठली निकाल ली हो, स्वाभाविक पड़ा हो तो वैसी स्थिति में साधु यदि ले तो क्या वह आज्ञा का उल्लंघन करने वाला है ? ये अवश्य है जितना त्याग करे वह त्याग का रूप है जैसे- कोई विगयों का त्याग करता है, कोई फलों का त्याग करता है। पर त्याग को इस रूप में न ढालें कि दूसरा ले रहा हो तो वह शिथिल आचरण कर रहा हो या विपरीत कर रहा हो। यदि ऐसा एलमा देने लगे तो हम तीर्थंकरों की आशातना करने वाले होंगे क्योंकि जो आचार भगवान ने दिया है वैसी स्थिति में न चलें तो आज्ञा का उल्लंघन होगा। श्रावक के लिए वचन व्यवहार बताये गये हैं। अभी मंत्रीजी कह गये कि कुछ अफवाहें फैल रही हैं। श्रावक तो अफवाह फैला नहीं सकता, क्योंकि- "पहले बोले श्रावकजी थोडा बोले, श्रावकजी काम पड्या बोले, आवश्यकता होने पर बोले, मीठा बोले, सूत्र सिद्धान्त की साक्षीपूर्वक बोले।" यदि ऐसा न बोले तो लवरी कहलायेगा, या क्या बोल रहा है कुछ अता-पता नहीं तो जो चाहो समझो पर उसे श्रमणोपासक के गुणों की जानकारी नहीं है या श्रावक का स्वरूप उसमें उजागर नहीं हुआ है। जिसके जीवन में श्रावक का स्वरूप उजागर हो गया, वह इधर -उधर की बात नहीं करेगा। हाँ यदि खरकंटक के तुल्य श्रावक है या वैसा जीवन जीने की स्थिति में है, तो वह दया का पात्र होता है। कहा गया है- "सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।" जो क्लिष्ट वृत्ति वाला है वह दया का पात्र है। वह स्वयं बोध कर रहा है तू उससे नफरत, घृणा क्यों करता है ? वह स्वयं ही अपने करणीय कर्मों से क्लिष्ट बंध कर रहा है। इसीलिए कहा गया है कि वह करूणा का, कृपा का, दया का पात्र है। संगम ने क्या किया ? पर भगवान ने तिरस्कार नहीं किया। जब भगवान की आँखों में करूणा की झलक आई तो उसने सोचा मैंने भगवान को विचलित कर दिया। विचलित नहीं किया

किन्तु भगवान ने सोचा- इसने मुझे कर्म-निर्जरित करने में कितना सहयोग दिया पर स्वयं ने चार गति के लिए कितना भार इकट्ठा कर लिया, कैसे ढोयेगा ? पहले व्यक्ति यात्रा पर जाते थे तो साथ में सारा सामान बांधकर ले जाते थे, पर आजकल तो एक सूटकेस रखेंगे। हालांकि बदली भी पहले ज्यादा करनी पड़ती थी। आज भले ट्रेन सीधी जाती हो तो भी वजन कम ले जाएंगे। ये नहीं कि जाड़े-जाड़े गद्दे ले लें, बल्कि ऐसा गद्दा ले जायेंगे कि हवा भरी और बिस्तर बन गया। वापस हवा निकाली और सूटकेस में बंद किया। आज आप यात्रा में सुविधा चाहते हैं तो परलोक की यात्रा करनी है उसमें भी हल्के बनें, तो वह यात्रा भी सुगम होगी। यह जल्दी तिरने का मार्ग है। और यदि चारों ओर से गट्ठर बांध लिया तो जल्दी जल्दी जन्म-मरण की प्रक्रिया होगी। तिर्यंच में, निगोद में, पुनः पुनः मरण होगा क्योंकि जो भारी-कर्मा है भार लेकर चल रहा है, वह श्वास जल्दी-जल्दी लेगा, अतः आयु जल्दी पूर्ण हो जावेगी। जन्मेगा-मरेगा, जन्मेगा-मरेगा, जन्मेगा-मरेगा, तिर्यंच और निगोद में घूमता रहेगा। इसलिए मनुष्य तन जो पुण्य से मिला है इससे ही तिरने का उपाय शुरू करना है। अतः द्रव्य शुद्धि और दायक शुद्धि समझें। द्रव्य शुद्धि का अर्थ है जो रस-चलित न हो, साधु के लिए शस्त्र परिणत न हो, साधु के लिए ग्राह्य हो, वह दिया जाये। दायक-अर्थात् जो आग्रह, दुराग्रह का शिकार नहीं हो। श्रद्धाभाव, विशुद्धभाव से दे तो तिरने का सर्टिफिकेट ले सकता है। तत्काल मोक्ष न हो तो वेटिंग लिस्ट में नाम आ जायेगा। एक भव, दो भव करके जैसे- एक गाड़ी चली गई, दो गई, वैसे १५वें भव में मुक्ति हो सकती है। इसका मतलब ये न समझें कि मोक्ष में वैसे क्रम से जाना होता है, लेकिन जैसे- द्रव्य-शुद्धि, दायक-शुद्धि की बात कही गई है वैसे ही पडिगाहम-शुद्धि अर्थात् जिसे दिया जा रहा है वह शुद्ध है या नहीं, इसकी बात भी कही गई है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्धता नहीं हो, आराधना नहीं कर रहा हो, तो दिया जाने वाला साधन तिराने में सहायक नहीं होगा। इसीलिए कहा-"पानी पीओ छानकर, गुरू करो जानकर।" गुरू को जानें क्योंकि जिसके हाथ में अपनी पतवार पकड़ा रहे हो उसे सही तरीके से जानना आवश्यक है।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' में कहा गया है- सभी साधु गुरू हैं। यही बात है या और भी कोई पाठ आता है ? आता है, यह भी कहा गया है-"अरिहन्तो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरूणो।" यदि सुसाधु कहा गया तो इसका मतलब है कि कुसाधु भी होता है। आप कहेंगे महाराज क्या बातें कर रहे हैं, कोई कथा नहीं कही। ये हमारी कथा है साथ ही जीवन की व्यथा है। हम कहाँ डोल रहे हैं, जीवन कहाँ जा रहा है ? हम स्वयं पर नियंत्रण करने की स्थिति में नहीं हैं। सोचने की बात है। सुसाधु को गुरू कहा है पर हर किसी को नहीं कहा। सुसाधु की परिभाषा क्या है, केवल परिभाषा से ही न समझें। आचार और व्यवहार से भी समझें। मैं पूर्व में भी कह गया हूँ कि दिन में तप का प्रदर्शन और रात में फल खाकर कहने वाला कि अब पेट भर गया कैसे सुसाधु हो सकता है? कल ही बात आई थी कि यदि साधु हमारे हाथ से चेक छीन ले तो क्या करना चाहिए। क्या बताऊँ, साधु को क्या करना है चेक से? यदि वह भी बैंक बैलेन्स रखने लगे या आपके घर में जमा करता रहे तो ठीक है, ऊपर से ढोंग रच रहा है। दुनिया को ठग रहा है। दुनिया को ही नहीं अपने आप को भी ठग रहा है। वह नहीं तिर सकेगा। फिर यात्रा चलती रहेगी। तेली के बैल की तरह कितना ही घूमता रहे मंजिल पर नहीं पहुँचेगा। घड़ी का कांटा भी घूम कर 10 से 11 पर पहुँच जाता है पर वह 10 से 11 पर भी नहीं आ पायेगा। जैसे कालचक्र घूमता रहता है वैसे ही [illegible], जब तक शुद्धि न हो। कहा गया है–

झोली और बड़ा पातरा लेकर चले कि आज तो प्रचुर लड्डू लाऊँगा। सेठजी ने कहा- "पधारो-पधारो!" धामे भर-भर कर रखे हुए थे। संत ने पातरा रख दिया, सेठ ने एक, दो, चार लड्डू बहराये फिर पूछने लगे-और कांई चावे फरमाओ, आपरे कांई चावे। थोडी देर तो संत देखते रहे पर जब फिर सेठ कहने लगे-"कांई चावे" तो गुस्से में कहा "और चावे मोक्ष।" ऐसी स्थिति में जो आ जाय तो समझ लीजिये कि साधु बन गये पर साधुत्व नहीं आया। साधु के लिए कहा गया है- जहाँ जीमन हो रहा है, सखड़ी है उसका लक्ष्य बनाकर नहीं चले। जो ऐसे भाव भी लाता है तो वह साधुत्व को बट्टा लगाता है। भिक्षा करते हुए ऊँच, नीच, मध्यम कुल में गोचरी करे। ये नहीं कि पैसे वाले का फरस लिया, और गरीब का घर है तो सोचे वहाँ क्या मिलेगा ? संगम गरीब था या धनवान ? रो-धोकर तो खीर बनाई। कभी खीर भी जिसे नसीब नहीं थी। ऐसे घर में मासखमण का पारणा। पर ये नहीं सोचा कि वहाँ क्या मिलेगा। पहुँचे तो उसे भी लाभ मिल गया। साधु इस प्रकार चलता है। आगम में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि पंगत हो तो उसके बीच में न जाये। पंचायती आदि में नहीं जाये, घर में रसोई हो पंक्ति न हो और दूसरा मार्ग है तो गृद्ध-भाव से नहीं, किन्तु संयम यात्रा के निर्वाह के लिए आहार करे। मन में विचार नहीं करे कि आज खाने को अच्छा मिलेगा तो मन में वहीं रोक लगा दें कि आज तूने मांग की है। यदि इस प्रकार मांग भरता रहा तो तूं आगे भी माँग करता रहेगा। "रोटी सट्टे आई चेली।" चेला हो या चेली वह तार नहीं सकती। वहाँ क्लेश, संघर्ष, तनाव बना रहेगा। व्यक्ति फिर भी सावधान नहीं रहता ।

साधु बन गये फिर वहाँ क्लेश नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। एक शिष्य बार-बार गुरू से कहने लगा आपके पैर से मेंढक मर गया, आप 'मिच्छामि दुक्कडं'... । गुरू ने कहा- नहीं भाई, वह सूखा था मेरे से नहीं मरा है। पर बार-बार कहकर उसने शांत गुरू को भी चंड बना दिया। इस प्रकार एक दूसरे के संसर्ग से भी कर्मोदय का प्रसंग बन जाता है। कहा जाता है कि एक शिष्य सरसों

की भाजी लेकर आया। और शिष्य का नियम होता है कि वह जो कुछ लाये उसे गुरू के सामने रखे। शिष्य ने भी रखी। गुरू ने देखा कि ये स्वास्थ्य के लिए हितकर है तो उन्होंने सारी भाजी खाली। शिष्य नाराज हो गया। गुरू ने सारी भाजी खा ली। अब तो उनके दाँत तोड़कर रहूँगा। इन्हीं विचारों में घूमने लगा। मन में योजना बनाने लगा, और अन्त में एक दिन दांत तोड़ ही डाले। ऐसे प्रसंग बनते हैं। इसलिए कहा गया कि सुसाधु ही गुरू है। "णमो लोए सव्वसाहूणं" में उन्हें ही सम्मिलित किया है जो २७ गुणों से युक्त हों। इसीलिए कहा गया है– जो ऐसे गुणों से युक्त नहीं है, मनमानी प्रवृत्ति करता है, गुरू की आज्ञा के बिना चलता है, उसने जो कर लिया उसी को मानता है, जो नहीं किया उसे नियम नहीं मानता है वह वंदना के योग्य नहीं है। ऐसे यथाछन्द के लिए कहा गया है– **"वंदंतं वा वंदंतं वा साइज्जर"**। वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है तो वह पार कराने वाला नहीं है। इसलिए द्रव्य शुद्धि, दायक शुद्धि, प्रतिगाहक शुद्धि को ध्यान में रखें। दान तो हम भी दे रहे हैं पर क्या वह सार्थक हो रहा है ? उन्होंने एक बार देकर संसार परित्त कर लिया, हम इतनी बार दे रहे हैं पर यात्रा को विराम क्यों नहीं मिला ? इतनी यात्रा कर ली पर अभी तक सड़क पर ही भटक रहे हैं, अपने घर क्यों नहीं पहुँच पा रहे हैं ? स्वयं के लिए सोचने का यदि हमें समय नहीं है और यदि सड़क पर ही खड़े रहे और सूर्यास्त हो गया, तो घर तो पहुँचेंगे ही नहीं और रात को क्या स्थिति बनेगी इसकी चिन्ता तो करें। यदि साधु जीवन का कल्प सुरक्षित रखना है तो श्रावक को जागना होगा। यदि नींद निकालते रहे तो इतिहास में नाम लिखने के लिए कौनसी स्याही काम में आयेगी ? अभी तो स्थिति यह है कि हमें तो नाम लिखना है, बस हमें इतनी ही चिन्ता है चाहे काले अक्षर ही हों। काले अक्षर में तो नाम किताब में भी आ जायेगा और हम उन काले अक्षरों में भी खुश हो जाते हैं तो स्वर्ण अक्षरों में तो न जाने किसका नाम आयेगा। यदि अभी भी नहीं जगे तो आने वाले काल में आने वाली पीढ़ी का भी रूझान नहीं रहेगा। इसलिए संत

कहते हैं-

उठो नर नारियाँ जागो, जगाने संत आये हैं।

संत आये हैं और चले जायेंगे। संत आते-जाते ही अच्छे लगते हैं। शनि के लिए कहा गया है कि वे जाते हुए अच्छे लगते हैं और लक्ष्मी के लिए कहा गया है कि वह आती हुई अच्छी लगती है। पर संत आते-जाते दोनों ही स्थितियों में अच्छे लगते हैं। क्योंकि यदि एक जगह बैठ जाय तो यही कथन चरितार्थ हो-

स्त्री पीहर, नर सासरे, संयमियो स्थिरवास।
अतरा लागे अलखावणा, जो अधिक करे निवास।।

यदि स्त्री पीहर में आकर बैठ जाय तो अलखावणी लगेगी, यदि पुरूष ससुराल में आकर बैठ जाय तो पहले दिन पावणा, दूसरे दिन अलखावणा और ज्यादा दिन टिक जाय तो फिर तो आज बाजार से सब्जी ला दो, ऐसी स्थिति बनेगी। वैसे ही यदि साधु एक जगह रूक जाये तो वह अच्छा नहीं लगता। अभी शक्ति है, समय है संत तो मार्ग दिखा ही देंगे। अतः अपनी शक्ति संभाले। यदि कभी कोई बीमार हो जाये, दो या चार महिने पलंग पर पड़ा रहे तो फिर उसे लगता है कि शक्ति नहीं रही अब कैसे चलूं। तब डॉक्टर अपने सामने खड़ा करके चलाते हैं पर रोज अंगुली पकड़कर नहीं चलाते। वह कार्य तो अपनी बुद्धि और शक्ति से ही करना होता है। इसलिए द्रव्य, दायक और पडिगाहम् की शुद्धि का स्वरूप समझें और उसका अर्थ-विन्यास करते हुए गुरू की पहचान कैसे करें इसे भी समझें। जिसकी स्वयं की प्रवृत्ति सही नहीं है वह आपको भी धोखे में रखेगा। आप गाँठ की पूंजी भी लगायेंगे और गोते भी खाते रहेंगे। वह तिराने वाला नहीं है।

आचार्य देव हमें शिक्षा देते हुए, अध्ययन कराते हुए एक बात कई बार कहते थे- **'पुढवीं समे मुणि हविज्जा।'** इसी प्रकार यह भी कहते थे- **'मायी मिच्छादिट्ठी अमायी समादिट्ठी।'** कभी माया मत करना। यदि जीवन में माया को पनपाया, उसका अंश भी रख लिया तो दुनियाँ में कुछ भी कर लो पर उससे आत्मा तिर नहीं पायेगी।

आचार्य देव का जीवन, आचार्य देव की साधना, खुली किताब है। किधर से भी पढ़ें, पढ़ सकते हैं बशर्ते उस की लिपी जानते हों। यदि लिपी नहीं जानते तो वैसे ही पढ़ नहीं पायेंगे जैसे वे पुराने हस्तलिखित शास्त्र जो भिन्न लिपि में लिखे गये हैं। शास्त्रों की कुछ ऐसी लिपियाँ हैं जिनका यदि ज्ञान नहीं है तो वे पढे नहीं जा सकते। पढ़ने के लिये उनकी लिपि को जानना होगा। आचार्य देव के आगे 'विभूति' विशेषण अपने आप नहीं जुड़ा है, उनकी साधना, उनके विचार, उनका ज्ञान और चारित्र उन्हें अतिविशिष्ट संत बना देते हैं। आज भी भाई कहते हैं कि जब आचार्य भगवन् की सेवा में बैठते हैं तब भले ही आचार्य भगवन् न बोलें, मूक रहें, उनसे मांगलिक भी नहीं सुनें, केवल उनके पास में बैठे रहें या केवल उनकी दृष्टि पड़ जाये तो भी अनोखी शान्ति की अनुभूति होती है। हम सुनते रहे हैं कि भगवान के समवशरण में २५ योजन तक शांति का वातावरण होता है। ऐसी होती है महान संतों की साधना। क्योंकि वे स्वयं हल्के बन चुके होते हैं, कामनाओं से मुक्त हो चुके है। इसलिए उनके चरणों में बैठने वाले को भी हल्केपन की तृप्ति की अनुभूति होती है। जैसे- तालाब के निकट ठंडक महसूस होती है वैसे ही आचार्य देव के निकट पहुंचते ही उनकी उर्जा की तरंगे मिलने लगती हैं। यदि व्यक्ति में स्वयं में ही कुछ नहीं है तो उससे क्या मिलेगा ? यदि मधुमक्खी के छत्ते में शहद नहीं हो तो कितना ही निचोड़ें, क्या मिलेगा? आचार्य देव का जीवन भरा हुआ है, वहाँ कोई लाग लपेट नहीं है। साफ सुथरा जीवन है। जहाँ अंतो तहा बहि, जो बाहर है वही अन्दर है। हमें भी अपने आप में वही स्वरूप उजागर करना है। इस प्रकार का यदि हमारा जीवन बनेगा तो वह भव्य-रूप होगा। वैसा जीवन हमें तारने वाला भी होगा। संतों की यही तो विशेषता होती है कि वे एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसका अनुसरण जीवन का उद्धार कर सकता है।

□□

7. सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश के लिये

नाणस्स सव्वस पगासणाए अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स ए संखएणं एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं।।

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर का अंतिम समवशरण है। अंतिम समवशरण में प्रभु जान रहे हैं कि अब बहुत कम समय रह गया है इस काया को छोडने का, पिंजरे से हंस उड़ने वाला है। बहुत कुछ मेरे द्वारा कहा गया है। बहुत से प्रश्नों का समाधान दिया है पर आने वाला काल बड़ा ही विचित्र काल होगा। काल तो क्या विचित्र होगा पर आने वाले व्यक्ति विचित्र होंगे। इसलिए उन्होंने उन व्यक्तियों की मानसिकता को ध्यान में रखते हुए बिना पूछे देशना फरमाई। परन्तु इस अर्थ और स्थिति का अनुमान भी हम अपनी समझ से लगा रहे हैं क्योंकि तीर्थंकरों का दृष्टि-कोण, उनके ज्ञान का आशय हम छद्मस्थ कैसे जान सकते हैं? हमारे लिये तो अनुमान लगाने की स्थिति ही बनती है। अंतिम समय में प्रभु ने बिना पूछे जो देशना फरमाई उसे अपुट्ठवागरणा भी कहते है। 'अपुट्ठ' अर्थात् अपृच्छ, बिना पूछे; 'वागरणा' अर्थात् कथन, व्याख्यान जो कुछ समझिये। ऐसा किसलिए किया गया? इसलिये ताकि जो साधक वर्तमान में हैं और जो आने वाले काल में होंगे, वे इस प्रकाश में अपने जीवन को आलोकित कर सकें यह बात अलग है कि आलोक उपलब्ध होने पर भी अथवा मौजूद होने पर भी हमारा मन बन जाय कि हम इस प्रकाश का उपयोग ही नहीं करेंगे और ढक्कन से उसे ढककर रख दें तो यह व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। पर प्रकाश तो प्रत्येक को अपनी रोशनी ही देता है, पदार्थो का ज्ञान ही कराता है। यदि हमारे अंतर का प्रकाश जागृत हो जाये अथवा यों कहें-'णाणस्स सव्वस्स पगासणाए'

ज्ञान प्रकाशित हो जाये तो उस आलोक में यात्रा कर हम अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे। एक दीपक है यदि उसे दीवार की ओट में रख दें तो वह एक तरफ ही प्रकाश करेगा, दीवार की दूसरी तरफ नहीं। तब वह छोटे से दायरे को ही प्रकाशित कर पायेगा, दीवार को चीर कर अपना प्रकाश नहीं फैला सकेगा। वैसे ही हमारा क्षयोपशम यदि एक देश से होगा तो उसी देश से जान सकेगा। जैसे अवधिज्ञान में यदि पार्श्व से क्षयोपशम है तो वह पार्श्व में ही देख पायेगा, आगे, पीछे या बीच में नहीं। यदि आगे-पीछे का क्षयोपशम है तो उधर ही प्रकाशित होगा। ऐसे ही श्रुतज्ञान में जितना क्षयोपशम है उतनी ज्ञान पर्यायों को प्राप्त कर पायेगा।

शास्त्र में कहा गया है कि एक-एक पद के अनंत गम होते हैं। गम अर्थात् जानने के मार्ग। हम किसी शब्द के दो-चार अर्थों को जान लेते हैं, जैसे 'पंकज' एक पद का नाम है। हम अर्थ लेंगे 'कमल' परन्तु पंकज का अर्थ है कीचड में जन्म लेने वाला। कीचड में तो कीड़े भी जन्म लेते हैं पर हम पंकज का अर्थ कमल ही लेते हैं। यदि व्युत्पत्ति करें तो पंक में जन्म लेने वाला चाहे कोई भी हो पंकज कहलायेगा। मैं पूछ लूँ कीचड में मनुष्य भी पैदा होता है या नहीं? वह वीर्य-रज-रूधिर की योनि में आकर पैदा होता है तो वह भी पंकज ही है। कीचड़ केवल मिट्टी और पानी का मैल ही नहीं होता, रक्त-वीर्य से भी कीचड़ बनता है। उस दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य भी कीचड़ से पैदा होता है। पानी के जीव भी कीचड़ से पैदा होते हैं। पर हम पंकज शब्द का एक ही अर्थ लेते हैं। तो जैसे-एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं पर व्यक्ति उतना ही प्राप्त करता है जितना उसके ज्ञान का क्षयोपशम हो। इसी प्रकार उसे जितना प्रकाश प्राप्त हो वह उतना ही देख पाता है। यदि वडी टार्च है, पाँच सेल वाली, तो दूर तक प्रकाश फैलेगा और यदि एक पेन जैसी पतली टार्च है तो उसका प्रकाश अधिक दूर तक नहीं जायेगा। गश्त लगाने वाले वड़ी टार्च रखते हैं ताकि दूर तक प्रकाश हो सके और डोक्टर को यदि आँख देखनी है तो वह छोटी टार्च से देख लेता

है। जिस वॉल्टेज वाले सेल होंगे उसी के अनुपात में प्रकाश मिलेगा। वैसे ही ज्ञान का जैसा क्षयोपशम होगा उतना ही हम तीर्थंकर द्वारा दी हुई देशना में अर्थ ढूंढ पायेंगे।

भगवान ने कहा है-तुम्हें ज्ञान का सर्वांगीण रूप से प्रकाश करना है। यदि सम्पूर्ण पदार्थों को जानना है तो सर्वांगीण प्रकाश करना होगा-"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए।" तब सभी आत्म प्रदेशों में तुम्हारे ज्ञान की ज्योति प्रकट होगी। कोई भी रोम-कूप, प्रदेश अंधकार में नहीं रहेगा। जिस समय सर्वांगीण प्रकाश होगा उस समय आत्मा की छटा अलौकिक होगी। अभी उसकी हालत चितकबरी है। उस श्वेत चादर जैसी जिसमें कहीं दाग हैं, कहीं नहीं। या रंगरेज उसे रंगने की कोशिश करे और बर्तन में डाल दे। पर यदि बर्तन में पानी थोड़ा हो तो थोड़े से पानी में वह कितनी रंग पायेगी ? उस स्थिति में उसमें कहीं तो गहरा रंग आ जायेगा कहीं हल्का रह जायेगा और कहीं वह सूखी ही रह जायेगी। वैसी दशा हमारी आत्मा की है। कहीं-कहीं ही इसका क्षयोपशम हुआ है और जहाँ हुआ है उससे देख रहा है, पर पूर्णतया आत्मप्रदेशों में प्रकाश प्रकट नहीं हुआ है। बहुत से प्रदेश अंधकार परिपूर्ण अवस्था में हैं। यह कुछ वैसी ही स्थिति है जैसी हमारे शरीर की होती है, जिसमें बहुत सी कोशिकाएँ, मांस-पेशियाँ आदि होती हैं और डॉक्टर मानते हैं कि उनमें से बहुत सी निरर्थक पड़ी रहती हैं। आप चेस्ट को ही लीजिये, व्यक्ति श्वास लेता है तो श्वास फेफड़ों में जाता है और पुनः निकलता भी है। हम वस्तुतः शरीर विज्ञान के संबंध में बहुत कम जानते हैं। कहते हैं उसमें ६००० के लगभग छिद्र हैं जिनमें १५०० तक श्वास लेते हैं बाकी के अवरूद्ध हैं, वे सारे निर्जीव हैं। उनमें चेतना ही नहीं है। दमे की बीमारी का कारण भी वे ही हैं। जहाँ-जहाँ उनमें कफ जम जाता है वहाँ जब श्वास जा नहीं पाता तो दमे की बीमारी हो जाती है। यदि प्रारंभ से ही श्वास सही प्रकार से लें और सारे रोम कूप खुले रहें तो एकाएक बीमारी नहीं होगी। अकाल में मृत्यु या बुढापा नहीं आयेगा। विचार कीजिये, आज से

२०-२५ वर्ष पहले आपके शरीर की रौनक कैसी थी और ५० वर्ष पहले आप कितना चल लेते थे। पहले तो मगरे पर दौड़ते हुए चढ़ जाते थे पर अब चढ़ें तो श्वास भर जाता है। क्यों भर जाता है? यदि शरीर विज्ञान के आधार पर देखें तो कारण है हमारे शरीर के अनेक अवयवों का निष्क्रिय पड़ा होना। यदि उन्हें सक्रियता में लाना है तो अलग-अलग प्रकार से प्रयास करने पड़ेंगे। जैसे-सर्दी में हाथ चादर से बाहर पड़ा रहे तो ठिठुर कर वह निष्क्रिय एवं संवेदनहीन हो जायेगा। उसे भीतर लायें, धीरे-धीरे थोड़ी देर में गर्मी पाकर पुनः वह पूर्व अवस्था में आ जायेगा तब ही संवेदनशील होकर वह सक्रिय हो सकेगा। जब तक ऐसे अवयव निष्क्रिय हैं, निस्तेज है, सक्रिय नहीं हैं तब तक शरीर में ताजगी और स्फूर्ति नहीं रहेगी।

अनेक बार व्यक्ति निराश हो जाता है, क्या करना है क्या नहीं करना है यह उसकी समझ में नहीं आता। ऐसी स्थिति में निष्क्रियता के कारण यदि चिन्ता ज्यादा बढ़ जाय तो वह मनोयोग पूर्वक कार्य भी नहीं कर पाता और उसका शरीर भी निस्तेज, सुस्त सा पड़ जाता है। जैसे शरीर की ऐसी हालत होती है वैसी ही ज्ञान की हालत होती है। हमारे अनेक आत्म प्रदेश तेजस्विता से युक्त हैं। अरिहन्तों और सिद्धों के तो प्रत्येक आत्म प्रदेश में ज्ञान किरण और तेजस्विता प्रकट होती है। क्यों होती है, कैसे होती है? कभी सोच लें कि मस्तिष्क के भाग में आत्म प्रदेश अधिक होते हैं पर ऐसा नहीं है। पूरे शरीर में आत्मा का अस्तित्व है। कोई भी स्थान आत्म प्रदेशों से रिक्त नहीं है। सारा का सारा शरीर उनसे जुडा है। मान लीजिये कोई कमिश्नर है। ऑफिस में उसका अलग काम होता है पर उसके अधीन अनेक ऑफिस और लोग रहते हैं। जो जिले उसके अधीन हैं उनमें क्या हो रहा है उसकी सूचना उसे मिलती रहती है। भारतीय गृहमंत्रालय में कहाँ-कहाँ से सूचनाएँ नहीं मिलती? सभी ओर से अपेक्षित सूचनाएँ मिलती रहती हैं क्योंकि सम्बन्ध जुड़ा हुआ होता है। यदि सम्बन्ध जुड़ा नहीं हो तो सूचनाएँ नहीं मिल सकतीं। हमने भी मस्तिष्क में ऐसा कार्यालय स्थापित कर रखा है पर उसकी

शाखाएँ, सम्पर्क सूत्र, ब्रांचें नर्वस् सिस्टम के माध्यम से पूरे शरीर में फैली हुई हैं। शरीर राष्ट्र के रूप में है। कहाँ क्या गतिविधि हो रही है इसकी सूचना तत्काल केंद्र में पहुँचा दी जाती है। कांटा गड़ता है पैर में पर जितनी तीव्र गति से यह सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है उतनी तीव्र गति से तो किसी सरकारी तंत्र में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री तक भी नहीं पहुँचती। यदि किसी देश के प्रधानमंत्री का स्वर्गवास हो जाये तो रेडियो-टी.वी. जैसे सूचना तंत्र भले अत्यंत तीव्र गति से यह सूचना दे देते हैं। किन्तु शरीर के केन्द्रों से ऐसी सूचना कि काँटा कहाँ गड़ा मस्तिष्क तक विद्युत तरंग की तरह तत्काल पहुँचती है और तत्काल ही हाथ चला जाता है काँटा निकालने के लिए। काँटा गड़ा तो पैर में था फिर हाथ को कैसे मालूम पड़ा? इसलिये क्योंकि आत्मा पूरे शरीर के एक-एक अवयव से जुड़ा है। ये बात अलग है कि हमारा ध्यान केन्द्र में केन्द्रित होता है। माना जाता है कि मस्तिष्क में चेतना का भाग ज्यादा है क्योंकि वहाँ से संचार व्यवस्था का कार्य होता है, वहाँ अत्यंत बारीक तथा संवेदनशील नसें हैं। कभी देखा होगा कि बालक की बुद्धि कितनी तीव्र होती है। वह कैसे-कैसे प्रश्नों का उत्तर दे देता है। एवन्ता कुमार ने कह दिया-"जानता हूँ उसे नहीं जानता हूँ, और नहीं जानता हूँ उसे जानता हूँ।" माता ने सोचा ऐसा ज्ञान तो मैंने भी प्राप्त नहीं किया। ज्ञान में उम्र का कोई तकाजा नहीं है, कोई बन्धन नहीं है। कोई छोटी उम्र में ही ज्ञान प्राप्त कर लेता है और कोई उम्र पक जाने पर भी कोरा का कोरा रह जाता है।

बन्धुओं मेरी बात समझने का प्रयास करें। समझ में आना ही कठिन है। महाराज ने कहा और सुन लिया। परन्तु मात्र सुनना ही पर्याप्त नहीं है, समझना भी है तथा उसके साथ अपने स्वयं की अवस्था को देखने का प्रयत्न करना भी है। समझ में तो आती है, और आज तो समझ इतनी आ गई है कि हम दूसरों को समझाने के लिए भी उत्सुक रहते हैं। आज इतनी समझ हो गई है कि हमें स्वयं के लिए समझ नहीं चाहिए। हम समझाने में इतने प्रवीण हो

गये हैं कि मस्तिष्क में तर्क-वितर्क से बात फिट कर लेते हैं। हमारा दिमाग समझता है पर इस समझ के लिये देखने का काम आँख करती है। और देखने का काम भी केवल आँख से नहीं होता। यदि केवल आंखों से ही होता तो भगवान आचारांग सूत्र में नहीं कहते -"मइमं पास" हे ! मतिमान देख। ये नहीं कहा भगवान ने। कहा कि समझ। 'संबुज्जह' बोध के लिए जरूर कहा पर जगह-जगह उपदेश भी दिया कि देख। कभी फोटो खिंचवाया क्या ? नाई में तो चलो स्टुडियो नहीं होगा पर कभी उदयपुर गये और स्टुडियो देखा तो मन में होगा कि चलो फोटो रहेगा तो बाद में जानेंगे कि ये मेरे दादाजी हैं। एक बार खिचवा लूँ। आप बैठे हैं। यदि झुककर बैठ गए, फोटो अच्छा नहीं आया तो लगेगा कि कहीं यह फोटो किताब में या दूसरी जगह आ गया तो अच्छा नहीं लगेगा। ५० रूपये खर्च भी किये और फोटो अच्छा नहीं आया। फोटो लेते हुए कैमरामैन कहता है- "सावधान मनसा करी" सुना है मैंने। स्वयं को इतनी स्मृति नहीं है परन्तु वंचित तो मैं भी नहीं रहा हूँ। जिस समय वैराग्य में था तो मुझे सेवाभावी श्री जयचन्दलालजी स्टूडियो में ले गये थे। मैं तो गांवड़े का रहा, धोती कुर्ता पहनता था। उन्होंने कहा कोट पहनो, टाई लगाओ। मैंने कहा- मुझे तो ये नहीं चाहिये। मुझे तो कुछ पता नहीं था। वे पहले ही मुझे इन्द्र भगवान के पास ले गये थे और इन्द्र भगवान ने सौगन्ध दिला दी थी कि परिवार वाले या ये कुछ कहें तो नु-नच नहीं करना। और मैं ठहरा भोला। मैंने मना किया तो उन्होंने कहा- "अभी सौगन्ध है।" मुझे ज्यादा तो जानकारी नहीं किन्तु सुनता हूँ कि जब कैमरा-मैन कैमरा फिट कर लेता है और आपकी ओर देखता है तब एक आँख आपकी ओर रखता है और दूसरी आँख कैमरे पर। वह आपसे कहेगा- थोड़ा चेहरा ठीक करिये, टाईट होकर बैठ जाइये या खड़े रहिये। यदि चेहरा मुर्झाया हुआ है तो कहेगा थोड़ा मुस्कुराइए। खिलखिलाकर हंसने को भले नहीं कहे पर कहता है चेहरे पर थोड़ी मुस्कान लाइये। चेहरा प्रफुल्लित हो तो वह फूल लेगा। यदि फोटो में चेहरा कुम्हलाया हुआ आया है और आप

ऐसा फोटो देख लें तो आप चाहेंगे कि कोई दूसरा न देखे। दूसरा देखे न देखे पर आप भी देखना पसन्द नहीं करेंगे। एक कैमरामैन इतनी हिदायत करे कि ऐसे घूमिये, वैसे घूमिये तो आप वैसा ही करते हैं और तीर्थंकर देव कहें- "मइमं पास" तो वहाँ देखने को जागृत नहीं, नींद उड़ती नहीं। आज रविवार है, ऑफिस जाना नहीं है तो सोये पड़े हैं। आँखें आलस से भरी हैं। ऑफिस जाना होता है तव तो उठना पड़ता है, कहीं वेतन न कट जाये। नहीं तो इतनी चिंता नहीं रहती। लेकिन आज तो चिन्ता नहीं है तो आलस मोड़ते रहेंगे। अंगडाई लेले रहेंगे। वीतराग वाणी में प्रभु ने कहा है जैसा चाहो वैसा फोटो खिंचवा सकते हो। वह फोटो बाद में कोई देखेगा। आखिर फोटो खिंचाते ही भविष्य के लिए हैं। अभी तो हैं जैसे हैं ही। फोटो रहेगा तो वाद में परिवार वाले देखेंगे। यह मनुष्य है चाहे जैसा फोटो खिंचवा सकता हैं, यदि खिलते हुए जीवन जीया तो भविष्य भी सुन्दर होगा। यदि चेहरा लटका हुआ है तो वह गिरा हुआ रहेगा। गिरावट होती है नीचे की तरफ, चढ़ाई ऊपर की तरफ। चेहरा लटकता है तो इसका मतलव है निराशा में जी रहा है, उत्साह नहीं, जान नहीं। हीन भावना में जीयेगा तो भविष्य सुन्दर नहीं वन पायेगा। अतः जैसा भविष्य बनाना चाहते हैं, वैसे जीयें। खिलते हुए जीयें। आज का दिन हमारे पास है उसे हंसकर जीयें, रोकर क्यों जीना ? कव क्या होगा ? पता नहीं फिर कल की चिन्ता में आज के दिन को वेकार क्यों करें ? कल की चिंता कल। कल की चिन्ता में रोना आएगा इसलिए साधु से भगवान ने कहा- कल की चिन्ता नहीं करना कि कल कहाँ गोचरी मिलेगी, मिलेगी भी या नहीं मिलेगी। नहीं भी मिली तो सहज तप का प्रसंग होगा। ये नहीं कहा कि पोटले वांध लो, पात्रे भर कर रख लो, तुमसे नहीं उठा तो भक्त वहुत हैं। आज ही भाई संतों से कहने लगे, म. सा. मै ले लूं क्या? मना कहाँ है। पहले हमें मत पूछो, पहले श्रीमतीजी से पूछो। उन्हें वचन देकर आये हो। भाई ! हाथ पकड़कर जो वचन दिया था, प्रतिज्ञा की थी कि तुमसे पूछे विना काम नहीं करूँगा उसका पालन

करो। उन्हें वचन दिया है, आप जानते हो ये औपचारिक्ता है। आपने प्रतिज्ञा की है- तुम्हें विना कहे दूसरा काम नहीं करूँगा, जो भी करूँगा तुम्हें वताऊँगा, एक दूसरे के बीच पर्दा नहीं रखूंगा, इसलिए पहले उनसे आज्ञा ले लो, जब वह 'हाँ' कर दे फिर कहें कि अव हमें पातरे पकड़ा दो। फिर हमारी वारी आयेगी तो सोचेंगे।

विषय चल रहा था- हीन भावना और हीन मनोवृत्ति में न जीयें। आज के दिन में कल की चिन्ता नहीं करें। पहले आज को संभालें। यदि वर्तमान ठीक है तो भविष्य भी ठीक रहेगा। आज को विगाड़कर चाहें कि भविष्य सुधर जाये, तो नहीं सुधरने वाला है। भविष्य की आयु या आप कहाँ जाओगे, यह निर्णय कहाँ होता है? इसी जीवन में। भविष्य का निर्माण वर्तमान करता है। भविष्य कैसा है उसकी चिन्ता नहीं करें, वर्तमान की करें। वर्तमान की भी चिन्ता नहीं करना है उस पर ध्यान रखना है। क्योंकि वह तो सामने है। इसलिए भगवान ने कहा- "माइमं पास" आगे पीछे मत देख। किन्तु जो चल रहा है उस वर्तमान में अपने को देख। फिर जरूरत नहीं रहेगी भूत, भविष्य के विषय में चिन्ता करने की। भूतकाल की स्मृतियाँ होती हैं और भविष्य की चिन्ता। आप जव भी काम हाथ में लेते हो तव या तो भविष्य का नक्शा तैयार करने लग जाते हो या भूत के स्मरण में खो जाते हो कि मैं क्या था, क्या करता था और ये कांटे चुभने लगते हैं। तरूण तपस्वी श्री अशोकमुनिजी भी कह गए और महासतीजी भी कि- "विरओमि विराहणाए" कांटे रहेंगे तो विराधना होगी और आराधना सध नही पायेगी। आराधना तभी होगी जव काँटे दूर हो जांय। भगवान ने कहा है- "छंदंनिरोहेण उवेइ मोक्खं," यदि तू सुख, शान्ति, आनन्द चाहता है तो भविष्य को छोड़, वर्तमान को देख। छंद का अर्थ है वंध। स्वछंद होकर चलता है तो वंध की प्रक्रिया होगी। स्वच्छंदता सोने की स्थिति है। सोते हुए देख नहीं पायेगा, जागेगा तभी निरोध होगा। निरोध करता है तव ही सजग होता है। निरोध करने पर वह सीधा होगा। निरोध नहीं किया तो उछल-कूद, उठा-पटक करेगा। गाय को दुहते हैं। कई गायें लात

मारने वाली होती हैं। आज तो गायें कहाँ हैं ? फ्लेट में स्वयं के लिये ही जगह कहाँ ? मनुष्य के लिए जगह नहीं तो भला गाय के लिए कहाँ हो सकती है? सत्य कहूँगा तो बात कटु हो जायेगी, लेकिन सत्य से छिपाव क्या? गाय तो क्या, माता के लिए भी जगह नहीं है। मकान तो इतने बड़े होते हैं पर बड़े मकान में दिल छोटा हो जाता है। यदि दिल में जगह है तो मकान छोटा भी हो तो फर्क नहीं पड़ता। पर कुत्ते के लिए जगह होती है। तब बंगलों में कुत्ते ही रहेंगे, मनुष्य नहीं। मनुष्य कहाँ रहेंगे, जंगलों में। हकीकत में गाय तो क्या माता-पिता के लिए भी स्थान कम है। क्या उनके दुःख दर्द सुनने के लिए भी तुम्हारे कान की खिड़की खुलती है ? कभी उनके द्वार भी खटखटाये कि तुम सुखी हो या दुःखी ? वे रोते हैं। आज क्या स्थिति वनी है। क्या क्या उम्मीदें संजोयी थीं, उमंगे थीं। लाल ! मेरी आँखों का तारा !! कौन है, आँखों का तारा ?

> **डोकर बैठो सोचे मन में, बेटो प्राण पियारो ।**
> **म्हारी आँख्यां रो तारो ....।।**

आज वही वाप जहर लगने लगा है। कवि ने जहर कहा है पर इसमें थोड़ा परिवर्तन करना पडेगा। यह मीठा जहर है। कटु जहर तो कौन लेगा, मीठा जहर है ताकि कोई समझे नहीं। और उसे घोल दे तो न जी पाता है न मर पाता है। वह आँखों का तारा सोचता है कि उस वृद्ध ने कितनी आशाएँ संजोयी थी कि मुझे नहीं दिखेगा, गोड़ा दुखेगा, कमर दुखेगी तो क्या मुझे ये रोटी खिलायेगा? अलग- अलग स्थानों में अलग अलग चीजें वनाते हैं। मेथी के लड्डू तो नहीं, हाँ मेथी लाकर फांक लो। घी, वादाम, काजू तो कहाँ पचेगा। पिताजी, वुढापे में घी कहां पचेगा। डॉक्टर भी वताते हैं कि लड्डू से कैलस्ट्रोल वढ़ेगा। घी खाना ठीक नहीं, आप तो सूखी मेथी फाँक लो। और मेथी भी मिल जाये तव न ? मैं कह रहा था गाय के लिए जगह नहीं है पर कुत्तों के लिए जगह है। माता पिता के लिए भी नहीं है। माता ने कितने कष्ट सहे, क्या क्या किया। क्योंकि माँ के भीतर ममता होती है। पर माँ की यह ममता भी अव

मिटती जा रही है। जब वह देखती है ऐसे हालत हैं तो उसे लगता है कि ऐसे का होना, नहीं होना किस काम का। वह ऐसे विचार से तो नहीं किन्तु डॉक्टर के पास पहुँच जाती है। बालक गर्भ में आया है पर वह कहती है- मुझे ऐसा बेटा नहीं चाहिए। उसके भाव भले भिन्न रहते हों पर ममत्व का हनन तो वहाँ भी है। यदि ममत्व का हनन होता रहा तो भारत भूमि की क्या दशा होगी जरा सोचिये। भारतीय संस्कृति में कहा गया- 'मातृ देवो भव'। पुत्र कुपुत्र हो सकता है पर माता कुमाता नहीं होती। माता-पिता गलत नहीं हो सकते। यदि वे भी वात्सल्य के भाव भुला दें तो भारतीय संस्कृति को कहाँ पायेंगे ? आज पाश्चात्य संस्कृति का बोलबाला है। यदि यही क्रम रहा तो आत्मा परमात्मा की बातें भी हौआ लगेंगी। आज तो फिर भी आत्मा का अस्तित्व मानते हैं तो विश्वास कर लेते हैं यद्यपि आत्मा दिखती नहीं है। आँखों से न दिखे पर अनुभूति तो होती है। यदि अनुभूति न हो तो देखने सुनने वाला कौन है ? मृत के सामने कितने ही ढ़ोल पीटो उसकी नींद नहीं खुलेगी, उसके कान में आवाज ही नहीं पहुँचेगी। नहीं तो रात में थोड़ी सी आवाज हुई या चूहे ने बर्तन गिरा दिया तो नींद उड़ जायेगी, कहीं चोर तो नहीं है? सजग होकर आहट लेने लगेंगे। यह सजगता आत्मा में होती है, शरीर में नहीं। आत्मा को देख नहीं पाते पर अनुभूति होती है।

मैं बातें करता चला गया और समय अधिक हो गया। विहार करके भी आये हैं। रास्ते में चलते हुए पोरवालजी कहने लगे- शांत क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय श्री गणेशाचार्य के साथ तो आराम से चलते थे, पर आज श्वांस फूलने लगा। क्यों फूलने लगा ? कहने लगे- उम्र का प्रभाव है। पर हमारे यहाँ राज वालों के लिए भी 'नो एन्ट्री' नहीं है। भारत सरकार से भी ५८ वर्ष में रिटायर्ड हो जायें, और रुचि हो तो २ वर्ष और निकाल लें पर ६० के बाद तो वहाँ से रिटायर्ड हो ही जायेंगे। पर प्रायवेट संस्थाओं में कहा जाता है- आओ आप हमारी संस्था में। आपका स्वागत है, प्रवेश खुला है। इस प्रकार के अनुभवी आयेंगे तो उनके अनुभवों का लाभ मिलेगा।

थे सारे के सारे भग जाएंगे। तब दृष्टि निर्मल हो जायेगी वस्तुस्थिति का सत्य स्पष्ट हो जायेगा। अतः भगवान महावीर ने भव्यात्माओं के कल्याण हेतु जो देशना दी है उसे हृदयंगम करें। ऐसा करने पर जीवन मंगलमय दिशा में आगे बढ़ने लगेगा। इसलिये भीतर देखो मतिमान, जागृत होकर देखो। ऐसी अवस्था यदि बन जाये तो फिर सब तरफ आनंद ही आनंद होगा। यह होगी उस ज्ञान की परिणति जिसके प्रकाशन की बात भगवान् ने कही है।

इस संदर्भ में यह भी समझ लें कि ज्ञान के सम्पूर्ण प्रकाशन की बात कही गई है- "नाणस्स सव्वस्स पगासणाए।" ज्ञान यदि सम्पूर्ण नहीं हो तो वह ज्ञान हो ही नहीं सकता। वैसे ही जैसे अर्द्धसत्य सत्य नहीं होता। ज्ञान सम्पूर्ण न हो तो हो सकता है कि जो बात वस्तुतः प्रकाशित ज्ञान में सम्मिलित नहीं है, वह प्रकाशित ज्ञान की प्रामाणिकता को संदिग्ध बना दे। इसलिये ज्ञान का प्रकाश तभी प्रकाश है जब वह अपनी सम्पूर्णता में प्रकट हो इसीलिये "सव्वस्स पगासणाए" के साथ यह भी कहा गया है- **"अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए। रागस्स दोसस्स ए संखएणं एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं।।"** (उत्तराध्ययन सूत्र-३२/२) इस प्रकार 'अज्ञान और मोह के परिहार तथा राग और द्वेष के सर्वथा क्षय की बात भी जोड़ी गई है। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि मोह, राग और द्वेष उस अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होते हैं जो ज्ञान के अभाव अथवा सम्पूर्ण न होने का परिणाम ही होता है। आचार-शुद्धी ज्ञान का मुख्य फल है। जिस ज्ञान के फलस्वरूप आचरण में निर्मलता नहीं आती वह ज्ञान ज्ञान माना ही नहीं जा सकता क्योंकि तब वह उस मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता जो एकान्त सुख रूप होता है। यदि गहराई से चिन्तन करें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, तीनों का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में यदि ज्ञान मिथ्या रहता है तो सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यग्चारित्र प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ज्ञान सर्वोपरि है अतः उसका सम्पूर्णरूप में प्रकाशन होना आवश्यक है। □□

8. वीतराग वाणी और उसकी महिमा

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने अपनी अंतिम देशना में भव्यात्माओं के उद्धार हेतु तथा लोक कल्याण हेतु जो दिव्य उपदेश दिया था, उसी की एक गाथा है -

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए अण्णाण मोहस्स ....।"

कई दिनों से मैं इस गाथा पर चिन्तन करता रहा हूँ। ज्ञान का सर्व रूप से प्रकाश हो, ज्ञान सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित किया जाय। सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित किया जाय- यह अपेक्षित तो है परन्तु तब तक संभव नहीं जब तक अज्ञान और मोह जैसी प्रवृत्तियाँ आत्मा के साथ संयुक्त हैं। यदि अज्ञान मोहादि से आत्मा अशुद्ध बनी रहेगी तो ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हम प्राप्त नहीं कर सकेंगे। कोई चिमनी, लालटेन या लैम्प जल रहा हो, प्रकाश भी आ रहा हो पर किसी तरफ से लैम्प का काँच काला हो जाय तो उस दिशा में प्रकाश नहीं मिलेगा। वैसे ही अज्ञान, मोह आदि जब-तक आत्मा पर काली छाया डालते रहेंगे अथवा उससे जुड़े रहेंगे तब तक आत्मा दूषित होगा और हम ज्ञान की ज्योति प्राप्त नहीं कर पाएंगे। इसीलिए कहा गया है कि अज्ञान और मोह को हटाना पड़ेगा, और राग-द्वेष से ऊपर उठना पड़ेगा। राग और द्वेष का सम्यक् प्रकार से क्षय करना होगा।

प्रश्न होगा, अज्ञान और मोह का जब क्षय हो गया तब राग-द्वेष के क्षय की बात क्यों कही गई है ? बड़ी महत्वपूर्ण बात है। राग-द्वेष तथा अज्ञान-मोह इन दोनों को अलग-अलग क्यों कहा गया है ? राग और द्वेष बीज हैं, अज्ञान और मोह फल हैं। कोई अज्ञानी व्यक्ति वृक्ष के फल तोड़ लेता है, और फिर सोचता है कि मैंने फसल तो ले ली अब इस वृक्ष से और फसल मिलने की स्थिति

"संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति"

संसर्ग कुछ समय मिले तो आत्मा पर प्रभाव बनता है हालांकि सिद्धों में ये संभव नहीं है। वहाँ पर एक सिद्ध में अनेक के संयोजन का प्रसंग रहता है। परिणामस्वरूप उनका परिपार्श्व इर्द-गिर्द एकदम श्रेष्ठ सुन्दर रहता है। सभी में ज्ञान की ज्योति जल रही होती हैं। इस दृष्टि से विचार करें तो एक सुपार्श्वनाथ भगवान में सभी का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जब एक सिद्ध, सुपार्श्वनाथ भगवान को वंदन किया जाता है तो सभी सिद्धों के वंदन का प्रसंग बन जाता है, वहाँ से अज्ञान-मोह भी दूर हो जायेंगे, राग द्वेष भी तिरोहित हो जायेंगे। कैसे हो जायेंगे? इसके लिये देव गुरू और धर्म पर विश्वास रखना पडेगा। उस भाई का उदाहरण लें जिसे पिता पर भी विश्वास नहीं हुआ। वृक्ष पर चढ़ता-उतरता,चढ़ता-उतरता रहा। मन में संशय था, प्रज्ञा निर्मल नहीं थी। सोच रहा था नमस्कार मंत्र गिनने बैठूं और ये कच्चे धागे हैं कहीं टूट गये तो मैं स्वयं कड़ाह में गिर जाऊँगा और जैसे बेसन का पकौड़ा सिकता है वैसे ही मेरा सारा शरीर इसमें जलकर पकौड़ा बन जायेगा। वह उतर-चढ़ कर रहा था। एक मन होता था चढूं पर फिर मन डाँवाडोल हो जाता था। ऐसे मन डोलाने से काम नहीं चलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में छलांग लगानी पड़ती है। वहाँ संशय या ढुलमुल मानसिकता से काम नहीं चलता।

कहते हैं कि संत निकलते हैं तो कफन बाँधकर निकलते हैं। कफन बांधने का मतलब है वे जिन्दा रहने की आकांक्षा नहीं करते। दूसरे रूप में, जिन्दा रहना नहीं चाहते। जिन्दा रहना अलग बात है पर अहं अथवा "ईगो" रखना अलग। तीर्थंकर की भाषा में इसे "मान" कहते हैं। यदि वह अहंवादी बनकर जिन्दा रहता है तो साधना के क्षेत्र में कभी आगे नहीं बढ़ पायेगा। आत्मा किनारे तक पहुँच जाने की स्थिति में होती है पर अहं संशय में डाल देता है, कहता है-अरे डूब जाओगे। वस्तुतः वह बचाव अपना करता है पर आपके कंधे पर बंदूक रखकर। वह सोचता है ये नहीं रहा तो मैं

कहाँ रहूँगा। यह साधना में कूद गया तो मेरा काम नहीं बनेगा। बनेगा नहीं क्योंकि मेरा काम इस पर निर्भर है अतः इसे बचा लूं। वह किस रूप में बचाता है? अपने स्वार्थ के पीछे इस भावना से कि मेरा अस्तित्व इस पर ही टिका है। ये अहं या मान जब तक रहेगा मनुष्य साधना में छलांग नहीं लगा सकेगा। जबकि स्थिति यह है कि उसने छलांग लगाई और अगले ही क्षण उसे सिद्धि मिल गई। सब कुछ तैयार होता है सिवाय उसके। इस संदर्भ में बाहुबली का ज्वलंत उदाहरण है, इसे एक घटना भी कहा जा सकता है-एक सामान्य सा अहं राह रोक रहा था, लगाम खींच रहा था-"तुम्हारे जैसा वीर बिना सिद्ध समवशरण में जाये। वहाँ छोटे भाइयों को वंदन करोगे? आज तक वे तुम्हें नमस्कार करते रहे हैं, अब तुम उन्हें नमस्कार करोगे? नहीं। तुम बहादुर हो, पहले केवलज्ञान प्राप्त कर लो।" ऐसी सलाह देने वाला कौन था? वह था अहंकार, मान, ईगो। जब तक इसके प्रभाव में चले, केवल ज्ञान नहीं मिला। अनेक क्षेत्रों में विजय प्राप्त कर ली थी पर एक आत्मा पर, मन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाये थे। इसी स्थिति को लक्ष्य कर कवि आनन्दघनजी ने कहा है-

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम,
जे ते जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे, पुरुश किष्युं मुझ नाम?

भगवन्, जिनको आपने हरा दिया, या जिन्हें जीत लिया, वे आप से हारे हुए शत्रु, मुझ पर हावी हो रहे हैं। जैसे हारा जुआरी दाँव ज्यादा खेलता है वैसे ही वे सारे क्रोधादि शत्रु मुझ पर हावी हो रहे हैं; मैं इनसे हार रहा हूँ, इन्हें जीत नहीं पा रहा हूं। क्यों हार रहा हूँ, या कैसे हार रहा हूँ? ऐसे हार रहा हूँ कि मन विजित नहीं है इसी कारण सारे शत्रु आकर धावा बोलते हैं। जब सेनापति कुशल और पराक्रमी होता है तब सारी सेना उसके निर्देशों पर चलती है। और सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना सरल होता है पर अहं पर विजय प्राप्त कर पाना बहुत कठिन है। जब तक इस अहं पर विजय प्राप्त नहीं की जाती तब तक अन्तर की ज्योति प्रकट

"संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति"

संसर्ग कुछ समय मिले तो आत्मा पर प्रभाव बनता है हालांकि सिद्धों में ये संभव नहीं है। वहाँ पर एक सिद्ध में अनेक के संयोजन का प्रसंग रहता है। परिणामस्वरूप उनका परिपार्श्व इर्द-गिर्द एकदम श्रेष्ठ सुन्दर रहता है। सभी में ज्ञान की ज्योति जल रही होती हैं। इस दृष्टि से विचार करें तो एक सुपार्श्वनाथ भगवान में सभी का समावेश हो जाता है। इस प्रकार जब एक सिद्ध, सुपार्श्वनाथ भगवान को वंदन किया जाता है तो सभी सिद्धों के वंदन का प्रसंग बन जाता है, वहाँ से अज्ञान-मोह भी दूर हो जायेंगे, राग द्वेष भी तिरोहित हो जायेंगे। कैसे हो जायेंगे? इसके लिये देव गुरू और धर्म पर विश्वास रखना पडेगा। उस भाई का उदाहरण लें जिसे पिता पर भी विश्वास नहीं हुआ। वृक्ष पर चढ़ता-उतरता,चढ़ता-उतरता रहा। मन में संशय था, प्रज्ञा निर्मल नहीं थी। सोच रहा था नमस्कार मंत्र गिनने बैठूं और ये कच्चे धागे हैं कहीं टूट गये तो मैं स्वयं कड़ाह में गिर जाऊँगा और जैसे बेसन का पकौड़ा सिकता है वैसे ही मेरा सारा शरीर इसमें जलकर पकौड़ा बन जायेगा। वह उतर-चढ़ कर रहा था। एक मन होता था चढूं पर फिर मन डाँवाडोल हो जाता था। ऐसे मन डोलाने से काम नहीं चलता। आध्यात्मिक क्षेत्र में छलांग लगानी पड़ती है। वहाँ संशय या ढुलमुल मानसिकता से काम नहीं चलता।

कहते हैं कि संत निकलते हैं तो कफन बाँधकर निकलते हैं। कफन बांधने का मतलब है वे जिन्दा रहने की आकांक्षा नहीं करते। दूसरे रूप में, जिन्दा रहना नहीं चाहते। जिन्दा रहना अलग बात है पर अहं अथवा "ईगो" रखना अलग। तीर्थंकर की भाषा में इसे "मान" कहते हैं। यदि वह अहंवादी बनकर जिन्दा रहता है तो साधना के क्षेत्र में कभी आगे नहीं बढ़ पायेगा। आत्मा किनारे तक पहुँच जाने की स्थिति में होती है पर अहं संशय में डाल देता है, कहता है-अरे डूब जाओगे। वस्तुतः वह बचाव अपना करता है पर आपके कंधे पर बंदूक रखकर। वह सोचता है ये नहीं रहा तो मैं

कहाँ रहूँगा। यह साधना में कूद गया तो मेरा काम नहीं बनेगा। बनेगा नहीं क्योंकि मेरा काम इस पर निर्भर है अतः इसे बचा लूं। वह किस रूप में बचाता है? अपने स्वार्थ के पीछे इस भावना से कि मेरा अस्तित्व इस पर ही टिका है। ये अहं या मान जब तक रहेगा मनुष्य साधना में छलांग नहीं लगा सकेगा। जबकि स्थिति यह है कि उसने छलांग लगाई और अगले ही क्षण उसे सिद्धि मिल गई। सब कुछ तैयार होता है सिवाय उसके। इस संदर्भ में बाहुबली का ज्वलंत उदाहरण है, इसे एक घटना भी कहा जा सकता है–एक सामान्य सा अहं राह रोक रहा था, लगाम खींच रहा था–"तुम्हारे जैसा वीर बिना सिद्ध समवशरण में जाये। वहाँ छोटे भाइयों को वंदन करोगे? आज तक वे तुम्हें नमस्कार करते रहे हैं, अब तुम उन्हें नमस्कार करोगे? नहीं। तुम बहादुर हो, पहले केवलज्ञान प्राप्त कर लो।" ऐसी सलाह देने वाला कौन था? वह था अहंकार, मान, ईगो। जब तक इसके प्रभाव में चले, केवल ज्ञान नहीं मिला। अनेक क्षेत्रों में विजय प्राप्त कर ली थी पर एक आत्मा पर, मन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाये थे। इसी स्थिति को लक्ष्य कर कवि आनन्दघनजी ने कहा है–

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम,
जे ते जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे, पुरुश किष्युं मुझ नाम?

भगवन्, जिनको आपने हरा दिया, या जिन्हें जीत लिया, वे आप से हारे हुए शत्रु, मुझ पर हावी हो रहे हैं। जैसे हारा जुआरी दाँव ज्यादा खेलता है वैसे ही वे सारे क्रोधादि शत्रु मुझ पर हावी हो रहे हैं; मैं इनसे हार रहा हूँ, इन्हें जीत नहीं पा रहा हूँ। क्यों हार रहा हूँ या कैसे हार रहा हूँ? ऐसे हार रहा हूँ कि मन विजित नहीं है इसी कारण सारे शत्रु आकर धावा बोलते हैं। जब सेनापति कुशल और पराक्रमी होता है तब सारी सेना उसके निर्देशों पर चलती है। और तभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना सरल होता है पर अहं पर विजय प्राप्त कर पाना बहुत कठिन है। जब तक इस अहं पर विजय प्राप्त नहीं की जाती तब तक अन्तर की ज्योति प्रकट

नहीं होगी।

वह भाई-पिता पर विश्वास नहीं कर रहा था। बात मात्र अविश्वास की नहीं है पर जहाँ व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है वहाँ वह बचाव के लिए अपने इर्द-गिर्द देखता है, फिर चाहे पिता हो या अन्य कोई वह विश्वास नहीं कर पाता क्योंकि दृष्टि में अंतर आ गया होता है। इसलिये वह हर बात को संदेह की दृष्टि से देखता है। कितनी ही अच्छी बात हो, पर वह सोचता है कि इसके पीछे कुछ राज है। क्या जाने, इसके पीछे क्या राज है। जब तक वह भीतर से संशयशील बना रहता है अपनी आत्मा का अहित करता रहता है। मुनि जी ने बताया था कि पिता ने नमस्कार मंत्र से आकाश-गामिनी विद्या सिद्ध करने की बात पत्र में लिखी थी। लिखा था 108 बार जप करना हैं। 108 बार जप क्यों करते हैं? तो बताया जाता है कि पंच परमेष्ठी के 108 गुण होने के कारण। पर क्या एक बार में एक ही गुण का उच्चारण होता है या जैसे अरिहन्त के 12 गुण है उनका उच्चारण 'नमो अरिहंताणं' करने से नहीं हो जाता? यदि इस दृष्टि से विचार करें तो एक बार उच्चारण करें तो एक बार में ही 108 गुणों की अभिव्यक्ति हो जायेगी, फिर 108 बार जप क्यों किया जाता है? अलग-अलग व्याख्याएँ हैं, व्यवस्थाएँ हैं। एक व्याख्या तो यह दी जाती है कि कर्मो का जो अज्ञान होता है या हम कर्म ग्रहण करते हैं, वे द्वार 108 हैं। 108 में एक-एक को बंद करना है तो 108 बार जप करें ताकि 108 द्वार बंद हो जायें। आप विचार करेंगे 108 द्वार कैसे ? आश्रवद्वार 20 कहे गये हैं, हेतु सत्तावान हैं फिर 108 द्वार कैसे लिये गये। संरभ, समारंभ और आरंभ ये तीन कृत, कारित और अनुमोदन, मन, वचन और काया। 3×3=9×3=27 और 27 को क्रोध,मान, माया और लोभ से गुणित करने पर 27×4=108। इस 108 प्रकार की प्रक्रिया से कर्म का ग्रहण या आश्रव का प्रसंग रहता है। इन 108 द्वारों को बंद करने हेतु 108 बार नमस्कार मंत्र का जाप करते हैं। पर इसके अतिरिक्त दूसरे प्रसंग भी बताये गये हैं। 108

द्वार से जो आते हैं तो उन्हें रोकने की बात भी कही गई है। पर जो आत्मा में रहे हुए हैं उनका फल-भोग भी उन्हें करना पड़ता है। हम कहते हैं-"सव्व पावप्पणासणो" अर्थात् सर्व पापों का नाश करने वाला है। पर सर्व का नाश होगा कैसे? पहले से जो कर्म लगे हुए हैं उनका भी नाश करना है। द्वार बंद कर दिये तो नये का ग्रहण नहीं होगा पर जो ग्रहण किये हुए हैं उन्हें कैसे क्षय करें ? उसके लिए भी 108 की गणना बताई गई है। ज्योतिष में 12 राशियाँ बताई गई हैं और एक राशि सवा दो नक्षत्र में आती है। एक नक्षत्र के चार चरण होते हैं। एक-एक चरण का एक-एक अक्षर होता है इस प्रकार 12×2¼=27×4=108 और अवहेडक में 108 अक्षरों की गणना है। ज्योतिष मानता है कि 108 अक्षरों से ही कर्मों का भुगतान होता है तो इसके भुगतान की प्रक्रिया से भुगतान हो जाय, समाधि भंग न हो इसलिए 108 बार जाप-साधना की जाती है। यदि साधना में लीन हो गए तो 108 में लीनता से 108 अक्षरों से जाप प्रक्रिया की जाती है। कर्म उदय में आयेंगे तो पीड़ा-वेदना होगी पर पीड़ा में ध्यान न जाये, साधना में ध्यान रहे यह आवश्यक है। भगवान महावीर के कानों में कीले ठोंके गये, मुनि गजसुकुमार के सिर पर अंगारे रखे गए पर उनका ध्यान नहीं टूटा। पीड़ा हुई होगी पर आत्मा का ध्यान उस दिशा में नहीं गया। वेदना से सम्बद्ध नहीं हुए। जब व्यक्ति जुड़ता नहीं है, ध्यान कहीं और रखता है तब चोट अनुभव नहीं होती। बच्चा दौड़ता है, अचानक गिर जाता है तो देखता है उसके इर्दगिर्द कौन है, कोई देख तो नहीं रहा है? यदि कोई देख ले तो बचाये जाने के लिये रोने लगता है। कोई न देख रहा हो तो चुपचाप कपड़ा झटक कर वापस दौड़ने लगता है। ये क्या स्थिति है? देख लिया तो पड़ने के साथ जोड़ता है और जोड़ने से पीड़ा होती है। नहीं जोड़ते तो पीड़ा भी नहीं होती। कई बार सुनते हैं कि वह भाई उठ नहीं पा रहा था। आचार्य देव पधारे तो उठ गया। श्वांस की तकलीफ थी, चल नहीं सकता था पर जब सुना आचार्य देव मांगलिक फरमा रहे हैं तो सब कुछ भूलकर श्रवण करने के लिए भागा। ये अपने आप कहाँ से हो गया? हम तो

सोचेंगे कि ये श्रद्धा की शक्ति है। पर भीतर शक्ति का भण्डार है जिसका उसे ज्ञान नहीं है, इसलिए जोड़ रखा है। जोड़ रखा है इसलिए छोटी सी पीड़ा भी पहाड़ जैसी लगती है। इस शक्ति को जागृत करना पड़ता है, प्रेरित करना पड़ता है। जागृत हो जाने पर यह शक्ति कठिनतर कार्य सम्पन्न करने की क्षमता प्रदान कर देती है। कई बार तो आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न करा देती है। हनुमानजी सीता की खोज करने चले, मार्ग में समुद्र था, कैसे पार करते? उनसे कहा गया शक्ति जागृत करो। उन्हें अपनी क्षमता का अहसास कराया गया और वे समुद्र लांघ गए। आप भी संसार समुद्र से तिरना चाहते हैं तो क्या नहीं तिर सकते? भगवान की देशना के अनुसार चलो तो तिर सकते हैं पर हम भी पूरा अनुसरण नहीं करते। हम जानते हैं कि कहा गया है-"श्री सुपार्श्व जिन वंदिये" क्यों? क्या इसलिए कि वह वन्दन सुख-सम्पत्ति का हेतु है।

प्रसंग 108 बार उच्चारण का है। कर्मों का संबंध आत्मा से जहाँ जुड़ता है वहाँ पीड़ा या वेदना होती है जिसे संभाल पाना कठिन है। हमारा मन, हमारी चेतना जब नमस्कार के गुणों से अपने को आप्लावित कर लेती है तब फिर चाहे कितनी ही वेदना हो पर वह महसूस नहीं होती। पर जब तक समर्पण भाव न हो, मन एकाग्रचित्त न हो तब अल्पतर व्यतिक्रम पर भी चित्त डोल जाता है। कभी कान के ऊपर मच्छर भनभनाने या बैठने का अहसास होता है। मच्छर बैठा भी न हो बैठने के पूर्व ही चूभन अनुभव होगी। आपको अचानक लगे कि मैं गिरा, गिरे नहीं हैं पर भीतर एक अनुभूति सी हुई-सनसनी सी पैदा हो गई। गिरे नहीं फिर ऐसी अनुभूतियाँ कैसे हो गई? इसलिए हो गई कि गिरने के साथ स्वयं को जोड़ लिया। ये बात अलग है कि बाहर से गिरे नहीं हैं पर मन से गिर चुके हैं। गिरने में वेदना की अनुभूति जोड़ी और सनसनी पैदा हो गई। इसे जब वेदना से जोड़ लेते हैं तब थोड़ी सी पीड़ा भी पहाड़ बन जाती है। नरक में भी पीड़ा होती है। अखबार में पढ़ते हैं कि अमुक ने अमुक जगह आत्महत्या कर ली। क्यों कर लेता है कोई आत्महत्या?

आत्महत्या के पीछे लगभग ऐसी ही मनःस्थिति होती है और बुद्धि काम करना बंद कर देती है। सोचने और निर्णय लेने की क्षमता नहीं रहती चित्त डोलायमान हो चुका होता है। इस प्रकार उत्तेजित व्यक्ति इधर-उधर देखता है, कि कोई नजर तो उसे नहीं देख रही है? दूसरों की नजरों से दिखे या नहीं, पर वह स्वयं के विचारों से तो गिर ही जाता है। बचाव नहीं कर पाता। कभी नौकर या आपका पुत्र दो-चार रूपये चुरा लें तो वह कुछ दिन सहमा रहता है सामने आने से कतराता है। यह झिझक क्यों? इसलिए कि उसकी बुद्धि निर्मल नहीं होती है। सोचता है कि दुनिया न जाने किस चश्में से देख रही हो। ढुलमुल अवस्था में वह स्वयं को सुस्थिर नहीं रख पाता कई बार निराशा इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह आत्महत्या कर लेता है। बुद्धि को प्रबल,प्रखर बनाने तथा प्रज्ञा को व्यवस्थित करने के लिए कवि ने कहा है-कि जो परतें आ गई हैं अज्ञान की, मोह की, राग की, द्वेष की, उन्हें दूर करें। प्रभु ने कह दिया-

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।।

पर दूर कैसे करें? उसके लिए कहा गया है कि बुद्धि की निर्मलता आवश्यक है। कवि ने बुद्धि को ललना कहा है। वंदन करने से ऐसा मनोबल उत्पन्न हो जाता है कि जिसमें अनोखी शक्ति और समता प्राप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ जुकाम हो जाने पर दवा दी जाती है। दवा से लगता है कि जुकाम ठीक हो गया पर वास्तविकता में भीतर प्रतिरोधात्मक क्षमता पैदा हो जाती है। कमजोर को सभी दबाते हैं, शरीर और मन कमजोर हो गया तो शत्रु आकर दबायेंगे। प्रतिरोधा-त्मक क्षमता है तो शत्रु के शिकार नहीं हो पायेंगे। इसीलिए कवि कहते हैं-बुद्धि को प्रवीण बनाना है तो सिद्धों को, तीर्थंकरों को वंदन करो, इससे जो आत्मविश्वास और शक्ति प्राप्त होगी वह बुद्धि को स्वस्थ बनायेगी। मैं कहूँ आप सुन लें, ये नहीं। प्रश्न होगा- किस आधार से यह कह रहे हैं? यह मैं नहीं कह रहा हूँ, तीर्थंकरों का

उपदेश भी है-वंदन भी एक प्रकार की स्तुति है। उससे दर्शन विशुद्ध होता है, अर्थात् बुद्धि निर्मल होती है। और बुद्धि से-"पण्णा समिक्खए धम्मं"। और प्रज्ञा से ही शत्रुओं को दूर किया जा सकता है। जब तक प्रज्ञा पैनी नहीं होगी वह सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित नहीं कर पायेगी और यदि शरीर में तत्पर नहीं हो सकेगी, प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न नहीं होगी तो विरोधी तत्व हावी हो जायेंगे।

मैंने कल के व्याख्यान में कहा था कि 25 बोल के 12वें बोल में कहा गया है कि 5 इन्द्रियों के 23 विषय और 240 विकार होते हैं। विषय तो विषय रूप हैं परन्तु जब प्रज्ञा उनके साथ राग-द्वेष के भाव जोड़ती है, उन्हें शुभाशुभ में संयोजित करती है तब वे विकार बनते हैं। यदि राग-द्वेष से न जोड़ें केवल द्रष्टा-भाव जागृत रहे तो शत्रु प्रवेश नहीं कर पायेगा। सेठ के पुत्र का दृष्टांत आपके ध्यान में होगा। उसे जो कागज मिला था उसमें मंत्र आराधना की विधि लिखी थी और लिखा था कि यदि मंत्र साध लिया जाय तो आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त हो जायेगी। वह सामान लेकर गया। आग जला ली, कड़ाह में तेल उबल रहा था। ऊपर छींका बांध लिया, डोरे भी लगा लिये पर स्वयं बैठने से घबरा रहा था। कहा गया है-"मरे बिना मोक्ष नहीं"। शरीर छोड़ेंगे तभी मुक्ति मिलेगी। पर वह शरीर छोड़ना ही नहीं चाहता था केवल मंत्र साधना चाहता था। आज हालत लगभग यही है, परिवार वाले तो चाहते हैं कि ये हटे, हमारा रास्ता साफ हो पर उसने ही अपने परिवार को पकड़ रखा है। यदि इतना ज्ञान हो जाय तो निहाल हो जाय। पर यह कहने का नहीं सोचने का, विचार करने का विषय है। वह भाई वृक्ष पर चढ़ना या मरना नहीं चाहता था। इतने में एक चोर आया और पूछने लगा क्या बात है आप ऊपर चढ-उतर, चढ-उतर क्यों कर रहे हैं? उस भाई ने वस्तुस्थिति से अवगत कराया। चोर के पीछे पुलिस लगी हुई थी, उसने सोचा मुझे तो मरना ही है। इसके पिता ने कहा है तो पिता पुत्र के लिए कभी गलत नहीं सोच सकता। मुझे तो दण्ड पाना ही है। देखें पिता के कथन के सत्य की परीक्षा ही करलें। अतः

बोला- लाओ यह मंत्र मुझे दे दो। मंत्र प्राप्त कर वृक्ष पर चढ़ा और जाप करके डोरे तोड़ दिये। बस मंत्र सिद्ध हो गया और वह आकाश मार्ग से रवाना हो गया। इधर पुलिस आई और सेठ के लड़के को पकड़ लिया। लड़का कहता रहा कि मैंने चोरी नहीं की है परन्तु पुलिस ने उसकी कोई बात नहीं मानी।

तीसरे अणुव्रत में कहते हैं कि चोर द्वारा चुराई वस्तु नहीं लेनी, चोर को सहायता नहीं देनी। ऐसा क्यों कहा गया है? इसलिए कि सरकार से बच नहीं पायेंगे। लाख दुहाई दें कि साहब मैंने चोरी नहीं की है परन्तु यदि रंगे हाथ पकड़े गए और चुराई हुई वस्तु पास में मिली तो दण्ड के भागी हो जाओगे। चोर से वस्तु लेना भी अपराध है। यदि वह लड़का पिता के वचनों पर विश्वास करता तो उसकी वैसी हालत नहीं होती। विश्वास से गिरा तो शत्रु हावी हो गया। यह विश्वास ही बड़ी चीज है इसलिये इसे समझें और वीतराग वाणी पर विश्वास करें। साधु-संत इस वीतराग वाणी को ही प्रवचनों में ढालते हैं अतः उसे केवल अच्छा कहकर अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ लें। उसे जीवन में ढालने का प्रयास करें और ग्रहण करें। उसे मनोरंजन के रूप में न लें। भगवान ने कहा है-

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे।।

वीतराग वाणी को सुनकर ही कल्याण को और पाप-मार्ग को जान सकते हैं। जानने के बाद जो श्रेयस्कर है उस पर 'समाचरेत' आचरण करें। आचरण नहीं है तो समझो पैर रूके हैं, गति नहीं है। यह गति तो तुम्हें ही करनी होगी। मार्ग बताया जा सकता है, परन्तु उस पर चलने का काम तो पथिक को स्वयं ही करना होता है। मान लीजिये हम चौराहे पर खडे हैं। कोई बता रहा है कि अमुक मार्ग अमुक जगह जाता है। मार्ग तो समझ लिया पर गन्तव्य तक पहुँचोगे कब? कोई गफलत में ही रहे और खड़ा-खड़ा पूछता रहे कि अमुक स्थान तक कौन सा मार्ग जाता है तो वह वहीं का वहीं

खड़ा रह जायेगा। उसे चाहे ५० बार मार्ग बता दिया जाये पर वह घर पहुँच नहीं पायेगा। वीतराग वाणी गंतव्य का मार्ग बता देती है, उसे समझें और जीवन में ढालें तभी गंतव्य तक पहुँच पायेंगे। सुनकर चिन्तन मनन करें फिर अपने पथ का निर्धारण करें। निश्चय ही पंथ का यह निर्धारण अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर होगा। परन्तु बुद्धि और विवेक को निर्देशित किये जाने का भी महत्त्व होता है। यह निर्देशन जितना स्पष्ट एवं कुशल होगा उतना ही अधिक पथिक के लिये उपयोगी होगा। भगवान की वाणी इस दृष्टि से अलौकिक दृष्टि प्रदान करने वाली तो है ही, अलौकिक सिद्धि प्रदान करने वाली भी है। भव्य आत्माओं को वह उपलब्ध है, यह उनका परम सौभाग्य है।

□□

9. जीवन डायरी का लेख

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर की दिव्य देशना प्राणिमात्र के लिए मंगलप्रद है। मंगलप्रद इस अर्थ में कि वह पापों को नष्ट करने वाली, अमंगल को समाप्त करने वाली तथा प्रत्येक आत्मा का कल्याण करने वाली है। परन्तु इसका मंगलकारी रूप तभी निखर पाता है जब इसे हम अपने में संयोजित कर लें। तभी यह लाभकारी भी हो सकती है। तनिक कल्पना करें, बहुत स्वादिष्ट पदार्थ घर में पड़े हैं, भूख भी लगी है, पदार्थ भी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं, पर जब तक उन पदार्थों का सेवन नहीं करें, जब तक उन्हें हाथ से उठाकर मुँह में नहीं रख लें तब तक उनके होने का कोई लाभ नहीं। परन्तु मुंह में रख लेने से ही क्या पेट भर जायेगा? नहीं। उन्हें चबा भी लें किन्तु गले से नीचे नहीं उतारें। जीभ सोचे स्वाद अच्छा है, नीचे नहीं उतारूं, स्वाद लेती रहूँ तो क्या पेट भरेगा? नहीं, गले से नीचे उतारने से ही पेट भरेगा। इसी प्रकार वीतराग वाणी का मुँह से उच्चारण कर लेने मात्र से कल्याण होने वाला नहीं है। उसे भी जीभ से नीचे अर्थात् व्यवहार तथा जीवन में उतारना पड़ेगा तभी उसकी कल्याणकारी शक्ति प्रकट होगी। मुंह में रखने वाले को स्वाद आ सकता है पर पेट नहीं भर सकता और शरीर का कल्याण भी नहीं हो सकता अर्थात् उसका मंगल नहीं हो सकता। मंगल तभी होगा जब वह उसे गले से नीचे उतारे अर्थात् शरीर के एक-एक अवयव के साथ रमा ले। कमजोरी में डॉक्टर नाड़ी के माध्यम से ग्लूकोज चढ़ाता है तो वह तीव्रगति से रक्त में मिलकर ताकत देने वाला बन जाता है। इसी प्रकार वीतराग वाणी को यदि जीवन की एक-एक गतिविधि के साथ रमा लिया जाय तो फिर देखिये कितने आनंद की अनुभूति होती है और कितना मंगल होता है।

"णाणस्स सव्वस्स पगासणाए" की बात तो कही ही गई है, परन्तु इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया है- **"धुणे कम्म सरीरगं"** अर्थात् कर्म शरीर को धुने। कैसे धुने ? धुनने की प्रक्रिया क्या है? आज हम ज्यादातर औदारिक शरीर को ही जान पाते है, पर इसे भी पूरा नहीं जान पाते हैं, ऊपर-ऊपर से ही जानते हैं। यदि विज्ञान का विद्यार्थी हो तो कुछ भीतरी बातों को भी जान सकता है अन्यथा भीतरी रचना का भी ज्ञान नहीं हो पाता कि शरीर की भीतरी रचना कैसी है और अंगों की क्या प्रक्रिया है। हम देखते हैं कि व्यक्ति जब कोई पदार्थ ग्रहण करता है तब उसका परिणमन होता है और उसका प्रभाव अनुभूत होता है; जैसे कोई दूध पीता है तो शरीर में ताजगी आती है और यदि किसी कारण से शरीर में जहर का प्रवेश हो जाता है तो उसका भी प्रभाव पड़ता है। हम जिस औदारिक शरीर के प्रभावों को देखते हैं उस के साथ तैजस और कार्मण शरीर का भी अस्तित्व होता है जिसे आज की भाषा में सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। इसे ही शास्त्रों में तेजस कार्मण की संज्ञा दी गई है। मनोविज्ञान मानता है कि व्यक्ति के संस्कार आनुवांशिक या पूर्व जन्म के होते हैं जिन्हें वह कहाँ से लेकर आता है यह पता नहीं चल सकता। जन्म के समय औदारिक शरीर ही उत्पन्न हुआ था। अलग से कोई डिबिया या पेटी लेकर वह नहीं आया था। ला भी नहीं सकता था। कोई सोचे टेप में भर लूं कि किससे कितना लेना-देना है, कितनी संपत्ति है, तो क्या जाते हुए ले जायेगा ? कोई सोचे ये सारा कम्प्यूटराईज कर लूं, जाते समय पॉकेट में रख लूंगा, साथ चला जायेगा क्या ? कभी सोचा कि कपड़े भी यहाँ रह जायेंगे तो कम्प्यूटर को ऑप्रेशन द्वारा जंघा में फिट करवा लूं तो जहाँ जाऊँगा लेकर चला जाऊंगा। क्या ले जा सकेगा? नहीं, कभी नहीं। तव फिर पूर्वजन्म की स्मृति-संस्कार किस माध्यम से आ रहे हैं, कैसे आ रहे हैं, यह भी समझ लेने की बात है। शरीर तो यहीं छूट जायेगा परन्तु शरीर में जो संस्कार हैं यदि वे आगे जा नहीं सकते तो आज जिसे "संस्कार शरीर" कहा जाता है और तीर्थंकरों ने सैद्धान्तिक भाषा में जिसे कार्मण शरीर कहा है उसे

हम क्या कहेंगे ? यही वह शरीर है जिसमें हमारी जो कुछ गतिविधि होती है उसका लेख लिखा रहता है। गाँव के लोग कहते हैं-विधाता ने लेख लिख दिया है। कौन है यह विधाता ? दशा माता ? विधाता है, ये मैं भी मानता हूँ पर उसका रूप क्या है ? यदि आप दशा माता या अन्य किसी रूप में उसे मानते हैं तो उसमें भी संशोधन कर लें। आत्मा स्वयं ही अपना विधाता है। कभी प्रधानमंत्री या किसी बड़े अधिकारी को देखा होगा, प्रत्यक्ष नहीं देखा होगा तो टी.वी. पर तो देखा ही होगा। उसके साथ कुछ कर्मचारी बने रहते हैं जो यह नोट करते रहते हैं कि उसने किस समय कहाँ क्या किया, कब जागा कब सोया, क्या खाया, किसका बनाया हुआ खाया, आगे कहाँ की प्लानिंग है, कहाँ यात्रा की, अथवा करेगा, आदि। यह सारा रेकार्ड डायरी में विहित होता है जैसे प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के कर्मचारी अंकन करते हैं वैसे ही हमारा कर्मचारी कार्मण शरीर अंकन करता है। आत्मा सोते-जागते, छिपकर या प्रकट, जहाँ, जो क्रिया करता है, कार्मण शरीर उसका अंकन करता जाता है। वह सदा उसके साथ लगा रहता है। आत्मा भले गफलत में पड़ जाय पर वह गफलत में नहीं पड़ता, सारा अंकन कर ही लेता है डायरी में। वही डायरी हमारा संस्कार है जो हमें संसार में रोकता है, सदा साथ में चलता रहता है, और जहाँ जाता है, ले जाता है। विधाता स्वयं आत्मा है पर वह लेख नहीं लिखता है। वह अंकन कार्मण शरीर की डायरी में पूरा का पूरा रहता है। हमें ज्ञात है कि बहुचर्चित हवाला कांड भी डायरी में नोट था। बाद में कहा गया कि उस डायरी में आग लग गई और वह जल गई। डायरी जल गई तो आगे की कार्यवाही रूक गयी। जिसकी सत्यापित प्रति न हो "खुदा न खास्ता" वह जलकर भस्म हो जाय तो क्या अपराधी पकड़ने में आयेंगे ? मुश्किल है। वैसे ही शास्त्रकार कहते हैं कि हवाला कांड की अर्थात् कार्मण शरीर की डायरी में जो लिखा है उसे धुन डालो, उसे चीर-चीर कर डालो, उसे नष्ट कर डालो। यदि ऐसा कर सके तो वे कर्म आत्मा को उत्पीड़ित नहीं कर पायेंगे, न कष्ट ही पहुँचा पायेंगे। लेकिन धुने कैसे ? प्रशासनिक या संसारी तरीके

तो यह संभव नहीं है क्योंकि सरकार तो फिर भी मान ले कि डायरी जल गई या नष्ट हो गई पर कर्मों की डायरी के साथ ऐसा नहीं है कि उसे गुम या नष्ट करा दिया जाय। उसे धुनने के लिए तो आत्मा को ही प्रयत्न करना पड़ेगा। वहाँ ऐसा भी नहीं है कि जिन कार्यों के लेख उसमें अंकित हुए हैं, वे जब कोर्ट में प्रस्तुत हों तब न्यायाधीश के सामने पैरवी करें क्योंकि दण्ड न्यायाधीश से ही प्राप्त होगा। कर्मों के अपराधों का कोई अलग से न्यायाधीश नहीं है। हमें ज्ञात है कि आजकल ऐसे-ऐसे प्रोजेक्ट आते हैं कि उन्हें एक बार प्रारंभ कर दो फिर सारा कार्य स्वतः ही सम्पादित हो जाता है। इसी प्रकार ही ये प्रोजेक्ट लिखे हुए हैं, जैसे-जैसे पन्ना उलटा जायेगा, अंकित तथ्य सामने आते जायेंगे और न्याय भी होता जायेगा। तो उस डायरी को नष्ट करना है- "धुणे कम्म सरीरगं।" कैसे धुना जाय? भगवान् महावीर विराजमान हैं, गौतम स्वामी पहुँचते हैं वंदन नमस्कार करते हैं और कहने लगते हैं- "भगवन् ! पूरा संसार तबाह हो रहा है। जहाँ देखें अनीति-अत्याचार व्याप्त हैं। एक व्यक्ति दूसरे के साथ संघर्षरत है। आपाधापी में विश्व झुलस रहा है और व्यक्ति भीषण तनाव के वातावरण में जी रहा है। ऐसा क्यों है ? परस्पर वैयक्तिक विद्वेष और प्रतिहिंसा की यह स्थिति क्यों बन रही है ?" भगवान् ने कहा "जब तक व्यक्ति स्वयं अतिक्रमण नहीं करता और आक्रामक नहीं बनता तब कोई और भी वैसा नहीं करता।" बात थोड़ी अटपटी लगेगी कि कोई अतिक्रमण कैसे करता है ? आक्रमण करने वाला तो हमें दिखता है। हम देख रहे हैं कि कोई पड़ोसी या व्यापारी हमें कष्ट दे रहा है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हम भूल रहे हैं कि पहले अतिक्रमण हमने ही किया था। सही दिशा में हमारी गति होनी चाहिए थी उस मार्ग से हम भटके यह अतिक्रमण हुआ। कोई जब अतिक्रमण करता है तो दण्ड तो भुगतना ही पड़ता है। हम बहुत बार सुनते हैं कि सड़क के किनारे के भवन को पी.डब्लू. डी. वाले तोड़ गये। लोग सोचते हैं कि वह उन पर अन्याय अथवा आक्रमण हुआ। वस्तुतः उन्होंने अतिक्रमण किया था और पराई वस्तु को अपना मानकर बैठ गये थे। अपना नहीं मानते तो

अतिक्रमण भी नहीं करते और दण्ड भी नहीं भुगतना पड़ता। वैसे ही लाइन से आत्मा हटती है तो डायरी में सारी अवस्थाएँ अंकित हो जाती है। जब न्याय होता है तब हम समझते हैं कि हम पर अतिक्रमण हो रहा है। वस्तुतः यह आक्रमण होता नहीं हम अतिक्रमण को स्वयं निमंत्रण देने वाले होते हैं।

एक दृष्टांत लें- एक बादशाह था। वह बहुत बड़ा तीरंदाज था। तीरंदाजी की कुशलता के लिये वह अभ्यास करता रहता था। एक बार वह अभ्यास कर रहा था कि एक बुढ़िया का इकलौता पुत्र उसके तीर का शिकार हो गया। बुढ़िया हा-हाकार कर विलाप करने लगी और काजी के पास पहुँची। अपने पुत्र की मृत देह दिखलाते हुए कहने लगी-"यह निरपराध था, बादशाह ने तीर चलाकार इसे मार दिया।" बादशाह के लिए काजी ने आदेश निकाला और अपने सामने हाजिर करवाया। बादशाह कटघरे में खड़े हुए। काजी ने न्याय की भाषा में पूछा-"इसका आरोप है इसके पुत्र को आपने तीर मारा है। आप क्या सफाई देना चाहते हो ?" बादशाह ने कहा, "मैं कोई सफाई नहीं देता। मै अपना अपराध कबूल करता हूँ कि मेरे तीर से यह हत्या हुई।" सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सब सोचने लगे-काजी इसका क्या फैसला देंगे। इतने में बुढ़िया खड़ी हुई और कहने लगी-"मुझे फैसला मिल गया, मुझे न्याय नहीं चाहिए।" सभा बरख्वास्त हो गई। बादशाह, काजी, बुढिया सभी जा रहे थे। बादशाह ने म्यान से तलवार निकाली और काजी से कहा-"मैने सोचा अब तक काजी न्याय करते रहे हैं। आज यदि न्याय नहीं करते, लाग-लपेट करते, दूसरे के अधिकार पर अतिक्रमण करते तो मैं उसी समय इस तलवार से आप पर वार करता।" काजी ने भी अपने पास छुपी हुई गुप्ती निकाल ली और कहा- "यदि आज बादशाह ने बचाव के लिए झूठ का प्रयोग किया होता, अपराध कबूल नहीं किया होता तो मै उसी समय जबान काटने की स्थिति में आ जाता।" अतिक्रमण आक्रमण को जन्म देता है। आपने देखा कि बादशाह ने अपनी गलती स्वीकार कर ली तो आक्रमण नहीं हुआ। पर कोई अपराध स्वीकार न करे और सोचे आक्रमण नहीं

होगा, तो ऐसा संभव नहीं है। आलोचना, निन्दा, गर्हा आक्रमण से स्वयं को बचाने के लिए हैं। गौतम स्वामी से भगवान् ने कहा- "दुनियां अतिक्रमण करती है पर प्रतिक्रमण नहीं करती। यदि प्रतिक्रमण कर ले तो आक्रमण नहीं होगा।" बादशाह ने प्रतिक्रमण कर लिया। गलती मंजूर कर ली तो आक्रमण से बच गया, नहीं तो काजी के डडों का प्रहार होता। किसी न किसी न्याय के धरातल पर दंडित होता। पर आलोचना और सत्य के आधार पर बच गया। सत्य रहता है तो गलती, त्रुटि नहीं होती। एक बार सत्य का गला घोंट दिया तो उसके पोषण के लिए एक नहीं अनेक बार असत्य के द्वार खटखटाने पड़ते हैं। एक असत्य को छुपाने के लिए अनेक असत्य बोलने पड़ते हैं और गलतियां करनी पड़ती है। इस प्रकार असत्य आचरण करने वाला एक प्रकार से मकड़ी के जाल में फंसता जाता है और कार्मण शरीर पर नये-नये लेख लिखता जाता है। धुनना तो दूर और भरता जाता है। प्रभु महावीर कहते हैं-प्रतिक्रमण करना है। व्यक्ति अतिक्रमण तो कर लेता है फिर आक्रमण से वचना चाहता है। लेकिन वस्तुतः बचने की तैयारी नहीं करता। यदि आलोचना, निन्दा, गर्हा हो तो आक्रमण से बचा जा सकता है। आलोचना, निन्दा, गर्हा कर्म शरीर को धुनने का मार्ग है। जो गलती की है, जो अंकन किया है ये सारे माध्यम उसके परिमार्जन के नियम के रूप में बताये गये हैं- "देह दुक्खं महाफलं"। देह को दुःख देने से महाफल होता है। पर देह-दुःख का अर्थ क्या है, यदि इसे समझा नहीं, विधि नहीं जानी और देह को सुखाकर डंठल भी वना लिया तो भी उससे कोई महाफल नहीं मिलेगा। यदि मनुष्य पहले विधि को जान लेता है फिर शरीर को सुखाता है तो महाफल प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिस प्रकार आतशी शीशे पर सूर्य की किरणें केन्द्रित करने से उसके नीचे अग्नि उत्पन्न हो जाती है और नीचे का पदार्थ जलने की स्थिति में आ जाता है। आज तो सौर ऊर्जा से भोजन तक वनाया जाता है। व्यक्ति सोचता है कि उसने वहुत वडी विजय प्राप्त कर ली है, शोध करके वहुत कुछ पा लिया है, पर क्या पहले सौर ऊर्जा का प्रयोग नहीं होता था ?

प्राचीन ग्रंथों में संदर्भ मिलता है कि नल महाराजा इस विधि को जानते थे उन्होंने उससे भोजन बनाया था। वे इस प्रकार की ऊर्जा का प्रयोग करने की विधि में प्रवीण थे। दमयन्ती ने चिन्तन कर जान लिया था कि रसोईये के रूप में रसोई बनाने वाले नल ही थे। अस्तु, बात मैं ऊर्जा के केन्द्रीकरण की कह रहा था, सौर ऊर्जा को ग्रहण करने के लिए बीच में प्लेट का माध्यम होता है। प्लेट पर किरणें केन्द्रित होती हैं और नीचे के भाग में भोजन-पदार्थ साग, चावल आदि पक जाते हैं। इसी प्रकार तप के माध्यम से ऊर्जा पहले तेजस शरीर पर संग्रहित होती है फिर उसे कार्मण शरीर पर प्रक्षिप्त किया जाता है। आपने अंतगड सूत्र में काली, महाकाली आदि महारानियों के तप का वर्णन पढ़ा होगा। उन्होंने कैसी कठोर तपस्या से देह को कष्ट देकर महाफल प्राप्त किया और कर्म की डायरी नष्ट कर आत्मा को उज्ज्वल, पवित्र एवं मंगल-रूप बना लिया। जैसे सौर चूल्हे की प्लेट ऊर्जा ग्रहण करती है और भोजन तैयार हो जाता है, वैसे ही इस शरीर के माध्यम से ऊर्जा तेज शरीर पर संग्रहित करते हैं फिर उसे कर्म शरीर पर डालते हैं तो तप से पूर्व कोटि के कर्म निर्जरित हो जाते हैं, क्योंकि तेजस शरीर के माध्यम से ताप कार्मण शरीर तक पहुँचता है और आत्मा का काला मैल साफ हो जाता है। जैसे शरीर के मैल को साबुन से साफ करते हैं वैसे ही कार्मण के लेखों को तप के साबुन से नष्ट किया जाता है। उन्हें नष्ट करना आवश्यक होता है क्योंकि वे ही लेख आत्मा के लिए घातक होते हैं। भूल से या अनजाने में किये गये कर्म भी घातक हो जाते हैं। जब नहीं जानते थे, कर गये, पर स्वयं का किया हुआ परम दुःख का कारण बन जाता है। यह किया हुआ अंकन तप के माध्यम से नष्ट होता है। अंकन ही नहीं, कार्मण शरीर भी नष्ट हो जाता है। वह नष्ट हुआ कि सम्पूर्ण कर्म क्षयकर आत्मा तीव्र गति से लोकाग्र पर पहुँच कर निरंजन, निराकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाती है।

नया वर्ष आ गया है। नये वर्ष में हमारे भीतर नयेपन की क्या पहचान बने, यह सोचना भी अपेक्षित है। नये वर्ष में पुराना सारा हिसाब किताब बराबर कर लें यह आवश्यक है। आजकल तो बदलाव एक अप्रेल को किया जाता है। वैसे आज के दिन नये वर्ष के प्रसंग से दुकानों में बही-खाते लाकर रख लेते हैं, स्थापना करते हैं फिर रामनवमी के दिन उसमें जो कुछ अंकित करना होता है, करते हैं। पर नयेपन के रूप में शुभारंभ या आज के दिन स्थापना के रूप में नये वर्ष की स्थापना करें और पुराना जितना भी कचरा भरा है उसे साफ कर दें। क्योंकि यदि कचरा पड़ा है और लीपते चले जायें तो लिपाई नहीं होगी, स्थापना नहीं हो पायेगी। यदि मकान बनाना है तो पहले भूमि को समतल बनाना पड़ेगा। यदि समतल नहीं बनाया तो आँगन ऊँचा-नीचा हो जायेगा, आराम से बैठ नहीं पायेंगे, ठोकर लगेगी, गिर पड़ेंगे, रोज-रोज की परेशानी रहेगी। नये साल में इतना तो करें कि पुराना जो कुछ ऊबड-खाबड़ है, जो अतिक्रमण किया है उसे कोई आक्रमण द्वारा हटाये, उससे पूर्व ही प्रतिक्रमण द्वारा हटा लें। यह प्रतिक्रमण किसका होता है ? मिथ्यात्व का, अव्रत का, प्रमाद का, कषाय का और अशुभयोग का। इसी के साथ होता है प्रतिक्रमण, श्रद्धा का, प्ररूपणा, स्पर्शना का। मिथ्यात्व आदि अवस्थाओं के साथ श्रद्धान आदि में यदि कुछ भी अंकित हो गया हो तो आज प्रतिक्रमण से सारा समाप्त कर दें। कल इसीलिये साल की अन्तिम पक्खी थी, प्रतिक्रमण करते हुए उन्हीं अवस्थाओं को समाप्त करने का प्रयास किया गया। यदि कोई रात्रि में ध्यान नहीं दे पाया हो तो आज नये वर्ष की स्थापना है, पहले सारे कचरे को निकाल दें, ऊबड़-खाबड़ अवस्थाओं को समाप्त कर अपनी अवस्था को शुद्ध बना लें फिर जो महल खड़ा करेंगे वह आरामदायी बनेगा। उसमें क्लेश, झंझट, तनाव कुछ नहीं होगा। यदि ऊबड़-खाबड़ पर बैठे रहे, संभले नहीं, संतुलन बिगाड़ा तो लुढ़क जायेंगे। अब लुढ़कना नहीं है, बहुत समय तक भ्रान्तियों में लुढ़कते रहे पर आज भूमि बराबर करनी है। मिथ्यात्व और अज्ञान में लुढ़कने की स्थिति

न रहे, अतिक्रमण की स्थिति न रहे, अतः श्रद्धा, प्ररूपणा, स्पर्शना की भूमिका पर महल बनाएं जो आरामदायी हो। इस संदर्भ में "उट्ठिए नो पमायए" "समयं गोयम मा पमायए" की उक्तियों पर भी विचार अपेक्षित है। किन्तु जब "धुणे कम्मं शरीरगं" की बात चल गई तो यह भी समझ लेना पड़ेगा कि जगे बिना यह नहीं होगा, सोये-सोये कर्म शरीर को नहीं जला पायेगा। संथारे में सोये-सोये भी जलाते हैं यद्यपि वह सोना वास्तव में सोना नहीं जागना होता है। भगवान ने कहा है-"मुणिणो सया जागरन्ति" मुनि सोये हैं तो भी जगे हुए हैं। उस शयन में तो कर्म शरीर को धुन सकते हैं पर यदि कोई भावों से सोया हुआ हो, द्रव्य से भले ही बैठा हो तो वह कर्म शरीर को धुन नहीं सकेगा। इसीलिए कहा-"उट्ठिये नो पमायए" हे आत्मन् ! उठ, प्रमाद मत कर। बहुत समय हो गया है तुझे इन्हीं अवस्थाओं में कर्म का संचय करते हुए। डायरी भर गई पर अब भी अज्ञान, प्रमाद और कषाय में रूल रहा है। इस प्रकार डायरी भरता रहा तो कर्मों को नष्ट नहीं कर पायेगा। अतः उठ और सक्रिय हो, उन लेखों को नष्ट कर।

"उट्ठिये नो पमायए" का ही परिणाम है "धुणे कम्मं शरीरगं" कर्म को धुन डालें। कर्मों को धुनने की जो अनेक विधियाँ हैं, उनमें से कुछ के ही रूप को मैंने स्पष्ट किया है। सभी का विवरण इस प्रकार दिया भी नहीं जा सकता। संक्षिप्त विवरण भी अपर्याप्त होता है अतः मैंने तो केवल भूमिका तैयार की है, जिस पर विस्तार से बढ़ा जा सकेगा। अभी तो बात नये वर्ष की है। यह नया वर्ष मंगलमय बने यह सभी चाहते हैं पर चाहने और सोचने से ऐसा नहीं होगा कि वह मंगलकारी बन जाय। यदि हम इसे वास्तव में मंगलकारी बनाना चाहते हैं तो आवश्यक है कि आज से इस काम में जुट जाएँ। इसके लिये सबसे पहले भीतर की अवस्थाओं को रूपांतरित करना होगा। पूर्व के बादशाह के दृष्टांत पर विचार करें। वह चाहता तो कई बातें बना सकता था। अनेक तर्क दे सकता था पर उसने वैसा नहीं किया। अपना अपराध स्वीकार कर लिया और

इस प्रकार अतिक्रमण का प्रतिक्रमण कर मनोभूमि को शुद्ध बनाया। बादशाह में बुद्धि थी, बचाव के उपाय भी सोच सकता था, पर प्रतिक्रमण हो गया तो सोचने की आवश्यकता ही नहीं रही। सभी ओर आनन्द ही आनन्द हो गया। ऐसा ही हम भी करें। कवि ने कहा है–

"मंगल हीं मंगल छायेगा जो आतम भाव जगायेगा।"

अतः बन्धुओं ! यदि मंगल चाहते हो तो सजग बनो। कवि आनन्दघनजी ने भी कहा है–"सावधान मनसा करी ....।" मन को सावधान कर लें, वहाँ जो कुछ कूड़ा–कचरा भरा है उसे साफ कर लें, फिर जिनेश्वर की सेवा में पहुंचे तो आनन्द की अनुभूति कर पायेंगे। यदि गटर के बीच में बैठ कर सोचें कि आनन्द से बैठ जाएँ, तो नहीं बैठ पायेंगे। गन्दगी सतायेगी, लगेगा माथा फटा जा रहा है, कैसे बचूं। बचने के लिए ही कहा गया है– हे साधक! मन को सजग कर ले, कहीं ऊँची–नीची अवस्था है तो उसे समतल कर ले, फिर जिनेश्वर के चरणों की सेवा कर तो सेवा फलीभूत होगी, नहीं तो सेवा में तो कोई कमी नहीं। फिर भी आनंद नहीं मिलेगा। इसीलिये कहा है– भक्ति करूँगा तेरी साँझ सेवेरे .... ध्याऊंगा तुझे ध्याऊंगा। कहता तो है कि तुझे ध्याऊंगा पर क्या कभी ध्या पाया? मनसूबे तो बहुत बाँधते हैं पर सम्पूर्ण भाव नहीं होता, होती है केवल व्यावसायिकता। तभी तो सौदेबाजी करते हैं। आप बैठे हैं और मालूम पड़ा कि इनकम टैक्स का छापा पड गया तो कहेंगे, "हे गुरूदेव, मेरा काम निपट गया तो आकर दर्शन करूँगा।" यह बात है केवल मतलब के लिये स्मरण करने की, दुःख में स्मरण करने की और सुख में विस्मरण की–

दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे ना कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होय ।।

पर बिना दुःख के सुख का मजा कहाँ ? दुःख में ही धर्म, गुरू, आत्मा याद आता है। इसीलिये दुःख में तो कहता है मैं तुम्हारी

भक्ति करूँगा, खूब ध्याऊंगा परन्तु जब काम निपट जाता है तब फिर ध्यान ही नहीं आता। हम नाई गये थे। वहाँ एक विद्यार्थी आया, उसने कहा- मैंने परीक्षा में बोलवां करी है कि यदि उत्तीर्ण हो जाऊंगा तो गुरूदेव के दर्शन करूंगा, पर कर नहीं पाया। उधर उसे बी.एड. कॉलेज में एडमिशन लेना था। उसी ने बताया कि एडमीशन से पूर्व टेस्ट होता है, तो उसका मन कहने लगा तुम पास नहीं होओगे क्योंकि तुमने पूर्व में वादा किया था पर निभाया नहीं। उसने सोचा टेस्ट देना है तो चाहे कुछ भी हो पहले दर्शन करूंगा। अतः बीकानेर पहुँच कर उसने गुरूदेव के दर्शन किये और निवेदन किया कि मेरी ऐसी भावना थी, परन्तु मुझे आज ही वापिस जाना है। गुरूदेव ने कहा-"पढ़ाई में उत्साह रखना तो मनोरथ सफल होगा।" यदि कोई सोचे गुरूदेव के दर्शन कर लिये अब तो पास हो ही जायेंगे तो समझ लो वह भ्रम में है। आलसी-प्रमादी का कोई सहयोगी नहीं होता। पुरूषार्थ के अनेक साथी बन सकते हैं, मरे हुए का कोई साथ नहीं देता। देता भी है तो थोडी दूर तक-वह भी मरे हुए का नहीं, उसके परिवार वालों का। सोचता है- यदि नहीं जायेंगे तो हमारे घर कौन आयेगा। मरने वाले के साथ कौन मरना चाहेगा। किसी जमाने में सतियाँ होती थीं, कुछ तो उन्हें चढ़ाया जाता था कि यह धर्म है। यह धर्म होता था या कर्म, यह कौन जानता है। आज तो कोई साथ नहीं देता। पुरूषार्थी के साथ अनेक हाथ जुड़ते हैं। आचार्य देव को इसी धरा पर शांत-क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय गणेशाचार्यजी ने युवाचार्य पद पर आरूढ़ किया था। समाज ने पूछा था कि किसके भरोसे हम जीयेंगे। आचार्य देव ने कहा था-"पंडित रत्न मुनि श्री नानालालजी म.सा. के भरोसे।" कई लोग सोचने लगे थे कि ये क्या करेंगे। मूर्धन्य विद्वान संतों के भी ऐसे विचार आये कि यह गंभीर प्रकृति का, चुप रहने वाला मुनि क्या सार-संभाल करेगा। ऐसे पत्र भी आये थे जिनमें लिखा होता था कि आचार्यश्री पता नहीं क्या सोच रहे हैं। ये तो बोलते ही नहीं, श्रावकों को जानते नहीं, इन्हें साध्वियों के नाम तक नहीं मालूम, ऐसे विशाल संघ की संभाल ऐसा चुप्पा संत कैसे करेगा। कहने वालों

ने तो कहा पर आचार्य देव विचलित नहीं हुए। हालाँकि युवाचार्य के रूप में मुनि नानालालजी को आचार्यश्री का संबल भी अधिक समय तक नहीं मिला था, तथापि जिनकी प्रकृति ही पुरूषार्थ की है उन्हें कोई झुठला नहीं सकता। आचार्य देव आज भी रूग्ण अवस्था में जितना समय एवं श्रम संघ-सेवा में देते हैं वह अपने आप में एक कीर्तिमान है। उनका एक-एक श्वास सेवा हेतु अर्पित है। हम जानते हैं कि जहाँ पुरूषार्थ है वहाँ अनेक हाथ जुड़ जाते हैं। अतः अनेक संत-सती श्रावक-श्राविकाएँ तथा अन्य जन इनके साथ जुड़े और धर्म-साधना का अथाह सागर हिलोरें लेने लगा। स्वर्गीय गणेशाचार्य ने जो पौधा रोपा था वह विशाल वट-वृक्ष के रूप में विकसित हो गया। कितनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकली जो नीचे भूमि तक आकर उसे दृढ़ता प्रदान करने लगी। पर क्या यह सब एक दिन में हो गया ? नहीं, यह उनकी ऐसी अनोखी पुरूषार्थ-क्षमता का परिणाम था, जिसका अनुमान हम नहीं लगा सकते। जिस गज से कपड़े मापते हैं उससे सोने को नहीं मापा जा सकता। अनाज के तराजू से स्वर्ण नहीं तोला जा सकता। हमारे पास कोई ऐसा यंत्र नहीं है जिससे यह जान सकें कि उनके जीवन के कितने लम्हे, क्षण, श्वास आदि शासन सेवा हेतु अर्पित हैं। उनके साथ शासन संघ और उसमें रहने वाले साधु-साध्वी आदि भी यदि जागृत होकर चलें तो उनका, हम सबका और सम्पूर्ण समाज का परम मंगल हो।

आज का दिन मंगल संकेत दे रहा है। नये वर्ष में जीवन की आंतरिक अवस्थाओं को साफ सुथरी कर लें, इससे पावन वातावरण बनेगा। भीतर की शक्ति यदि जागृत हो गई तो फिर कहीं अटकोगे नहीं, भटकेंगे नहीं। "चरैवेति-चरैवेति-चरैवेति" का अनुसरण कर चलते रहे और बढते रहे तो मंजिल की प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह चलना जीवन की डायरी भरने के लिये नहीं, उस डायरी की प्रविष्टियों को निरस्त करने की दिशा में हो और प्रयास हो "धुणे कम्म सरीरगम्।"

□□

10. सावधान मनसा करी

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर ने जो दिव्य देशना दी है वह प्रत्येक मनुष्य के लिये तथा सभी भव्य आत्माओं के लिए समान रूप से कल्याणकारी एवं मंगलकारी है, क्योंकि वह दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण है। अज्ञान और मोह हमारे दुःख के मूल कारण हैं। इनके कारण उत्पन्न राग-द्वेष जब तक हमारी अन्तर चेतना में विद्यमान रहेंगे तब तक हमें एकान्त सुख-रूप मोक्ष प्राप्त नहीं हो पायेगा। संसार का सुख अपने आप में सुखाभास माना गया है, क्योंकि उसके पीछे अज्ञान, मोह, राग-द्वेष आदि की छाया भी रहती है। जब-तक ये अवस्थाएं व्यक्ति की मानसिकता के साथ जुड़ी रहेंगी, वह न शांति पा सकेगा न आनन्द का अनुभव ही कर पायेगा। शांति कहीं बाहर नहीं है, यदि हम उसे बाहर तलाश करेंगे तो वह प्राप्त होने वाली नहीं है। यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ को भी इस अर्थ में आध्यात्मिक प्रवृतियाँ कहा जा सकता है क्योंकि वे भी क्षमा, प्रेम, अहिंसा जैसी प्रवृत्तियों के समान हैं। आत्मा में विद्यमान होती हैं परन्तु ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें परस्पर सामंजस्य नहीं होता क्योंकि एक का दूसरे के तत्वों से मिलान नहीं होता। जहाँ क्रोध होता है वहाँ से क्षमा पलायन कर जाती है। इसी प्रकार जब क्षमा-भाव विकसित होता है तब काम, क्रोध, मोह आदि भाव स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिएं दस यति धर्म में सबसे पहले क्षमा धर्म को रखा गया है। यह धर्म इतना महत्वपूर्ण है कि यदि मात्र इसकी ही आराधना हो जाये तो हमारे जीवन में क्षमा का गुण इतने शक्तिशाली रूप में उदय हो जाये कि कोई भी विपरीत अवस्था सहज ही हमें आहत नहीं कर पाये, तब क्रोधादि से क्षमा आहत नहीं होगी।

हम विचार करें कि आखिर व्यक्ति साधना किसलिए करता

है? काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि को छोड़कर तो वह साधु नहीं बनता, किन्तु छोड़ने के लिए बनता है। श्रावक भी राग-द्वेष आदि छोड़ने के उद्देश्य रख कर श्रावक जीवन में प्रवेश करता है। हम यह भी न सोच लें कि साधु बनने मात्र से वीतरागता आ जाती है। हम साधु बन सकते हैं लेकिन तब मन नहीं बोलेगा कि मैं वीतराग हूँ। यदि ऐसा लगे कि साधु बनने के बाद अब वह सर्वज्ञ है, भरत चक्रवर्ती है, तो समझ लीजिये कि साधु बनने के पूर्व गृहस्थ अवस्था में ही उसने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पर आमतौर पर साधना में प्रवेश का लक्ष्य अज्ञान, मोह, राग, द्वेष आदि का विसर्जन करना होता है। परन्तु यह विसर्जन हो केसे? राग-द्वेष जो संसार की जड़ है, बन्ध का मुख्य हेतु है, उन्हे कैसे जीतें ? इसके लिए आवश्यक है कि हमारे भीतर क्षमा भाव का प्रादुर्भाव हो। जहाँ क्षमा का प्रादुर्भाव हो जाता है वहाँ आनन्द की अनुभूति स्वतः ही होने लगती है। इसी प्रकार आत्म-भावों में रमण से जीवन के अमूल्य क्षणों का अनुभव संभव हो पाता है। सुपार्श्वनाथ भगवान की वंदना करने का लक्ष्य भी यही है। कवि ने भी ऐसे ही भाव व्यक्त करते हुए कहा है- हमे जिनेश्वर की चरण-सेवा करनी है-"धारो जिनवर सेव ललना।" जिनेश्वर के चरणों को धारण करो और उनकी सेवा करो। जिनेश्वर वर्तमान में प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि भरत क्षेत्र में अभी तीर्थकर नहीं हैं पर उनके चरण आज भी मौजूद हैं। ये चरण हैं- श्रुत और चारित्र धर्म। ये जिनेश्वर के पद हैं, चरण हैं, इनकी सेवा करना उनकी चरण सेवा है। कवि का कहना है कि ये खेल भावुकता का नहीं है। भावुकतावश कुछ अनुचित कर लिया तो फिर पश्चाताप करना पडेगा। इसीलिये कवि ने सावधान किया है-"सावधान मनसा करी"। जिनेश्वर के चरणों को ग्रहण करना है तो मन की सावधानी अपेक्षित है। यदि सावधानी नहीं रही तो चरण प्राप्त करके भी वैसा लाभ प्राप्त नहीं कर पाएंगे।

मैं कई बार कहता हूँ कि ऊपर से चरण सेवा का लक्ष्य

बनाया, साधु की पोशाक सजाई, जीवन भर ओघे-पातरे का ढेर लगाया, परन्तु साधु के अनुरूप जिनेश्वर के चरणों की सावधानी पूर्वक सेवा नहीं की तो न अज्ञान-मोह का विसर्जन हो सकेगा, न राग-द्वेष का ही क्षय हो पायेगा और न वह ज्ञान प्रकाशित हो पायेगा जिसके आलोक में जीवन मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। यदि वास्तव में ज्ञान को उसकी सम्पूर्णता में प्रकाशित करना है तो कवि के उपदेशानुसार मन को सावधान करना पड़ेगा। मन की सावधानी बन गई तो ही चरण-सेवा सही रूप में संभव हो पायेगी। बात मन की सावधानी की कही जा रही है। यद्यपि हमारे पास वचन और काया की शक्ति भी है, फिर भी मन को यहाँ आगे रखा गया है। मन को ही क्यों महत्व दिया गया है ? इसलिये क्योंकि खाली मन से आराधना नहीं होगी। स्थानांग सूत्र में इसकी चार स्थितियाँ बताई गई हैं यथा- १. द्रव्य से शून्य किन्तु भाव-सहित २. द्रव्य सहित किन्तु भाव-शून्य ३. द्रव्य से शून्य भाव से शून्य ४. द्रव्य सहित भाव सहित। इनमें वही भंग सही है जो द्रव्य और भाव से उपयुक्त है। साधु अवस्था में "नमो लोए सव्व साहूणं" को स्वीकृत किया गया है। यदि कोई गृहस्थ-रूप में रहते हुए भी उत्कृष्ट भाव-स्वरूप को लेकर चल रहा है तो उसे भी इसमें शामिल किया गया है। परन्तु जहाँ वंदन की बात होगी वहाँ द्रव्य और भाव की युक्ति-युक्त पूर्ण अवस्था में ही वंदन की प्रक्रिया बनेगी, यह राजमार्ग है। उस वंदन के स्वरूप को समझें।

कवि ने मन को ही प्रधानता दी है। वचन और काया को क्यों नहीं ? हम जरा शोध-खोज करें, चिन्तन करें। इस चैतन्य का विकास या विकास-यात्रा का प्रसंग एकेन्द्रिय से बना, प्रारंभ में केवल काया है, वचन वहाँ नहीं है। जब यात्रा प्रारंभ हुई और बहुत पुण्यवानी का संचय हुआ तब वचन-योग मिला अर्थात् बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय को वचन योग प्राप्त हुआ। उनके भी मन नहीं था। उससे आगे की अवस्था में पहुँच कर सन्नी पंचेन्द्रिय में आये, वहाँ मन की मुख्यता हुई। काया से वचन की ओर, वचन से मन

प्राप्ति अनंतानंत पुण्यवानी से मिलती है। मन की प्राप्ति उन्नति की सब से श्रेष्ठ अवस्था है, या कहूँ वीर्यान्तराय के क्षय से जो शक्ति प्राप्त होती है उसमें सर्वश्रेष्ठ अवस्था मन की है। उसमें ही शेष सभी शक्तियों का समावेश स्वतः ही हो जाता है। एक उदाहरण दूँ- भाई पूछते हैं कि क्या आचार्य देव का नोखा से विहार हो गया ? आचार्य देव का ही क्यों पूछते हैं, उनके साथ में और दूसरे संत नहीं है ? अलग-अलग नाम लेकर नहीं पूछते कि सेवंतमुनिजी का या और संतों का विहार हो गया क्या ? ऐसा इसलिये है क्योंकि आचार्य देव के विहार के साथ उनका विहार भी जुड़ा हुआ है। अतः एक के विहार का पूछने से सभी के विहार की जानकारी मिल जाती है। इसी प्रकार मन के ग्रहण से वचन और काया का भी ग्रहण हो जाता है। आप मुहावरे में कहते भी हैं कि "हाथी के पैर में सभी के पैर" वैसे ही यहाँ मन की अवस्था से कवि ने स्वीकार किया है कि तीनों शक्तियाँ उसके अन्तर्गत ही हैं। नीतिकारों ने भी कहा है-**"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो"** यही मुक्ति और बंध का साधन है, पर यह एकान्त नहीं है। यहाँ भी वचन और काया का योग है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो जैसा मन में होता है वैसा ही वाणी में झलक जाता है। वाणी में जो झलकाव होगा वही शरीर में स्पष्ट होगा। यह बात अलग है कि मन में वह कुछ अलग अवस्था में होगा और शरीर में कुछ अलग रूप में अपनी झलक दिखाता हो। भगवान् ने कहा है- जहा अंतो तहा बाही। आचार्य देव कई बार फरमाते हैं कि टंकी में जैसा पानी होगा वैसा नल में आयेगा। जैसा मन में है वैसा ही वचन में प्रवाहित होगा और वही झलक काया में प्रकट होगी। इसलिये कवि ने वचन और काया की बात नहीं कही बल्कि अन्तर्भावित करते हुए कहा-"सावधान मनसा करी ....।" मन को सजग बनाना है। मन द्रव्य भी है, मन भाव भी है। यदि भाव मन सक्रिय नहीं है तो द्रव्य मन से भी काम नहीं चलेगा। द्रव्य मन तो केवल उड़ान भरने वाला है। भाव का संयोजन नहीं हुआ तो मति का रूप नहीं बनेगा। और क्रोध,मान अज्ञान की

अवस्थाएँ बनी रहेंगी। अज्ञान-मोह का रूप हम नहीं पहचान पायेंगे। हम सोचते हैं कि हम में अज्ञान नहीं है। है पर वह ऐसे छिपकर रह रहा है कि व्यक्ति सहसा उसे पहचान नहीं पाता। नहीं पहचानने के कारण ही व्यक्ति व्यथित रहता है। व्यथा का रूप यह है कि हम मान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति हमें दुःख दे रहा है, अथवा अमुक व्यक्ति मेरी दूकान नहीं चलने दे रहा है, यदि ऐसा चिन्तन किया जाता है तो क्या यह पूर्णतया आत्म-भाव का चिन्तन है? नहीं, यह चिन्तन अज्ञान का परिचायक है। यह निश्चित है कि कोई किसी दूसरे को दुःख नहीं दे सकता। वह तो मनुष्य स्वयं अपने से जोड़ लेता है। "एगो में सासओ अप्पा"। एक आत्मा ही मेरी शाश्वत है। कौन किसे दुःख-दर्द दे सकता है, अथवा दुःख-दर्द पैदा कर सकता है ? ये दुःख दर्द भी हमारे भीतर ही हैं। मैं अनेक बार कहता हूँ, हमने संबंध जोड़ लिये तो दुःखी हुए, यदि संबंध नहीं जोड़ें तो पीड़ा नहीं होगी। उदाहरण के लिए देखें भगवान महावीर को, गजसुकुमाल मुनि को। भगवान के कानों में कीले ठोके गए, गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रखे गए। क्या वेदना नहीं हुई होगी? हम सोचते हैं कि ये बातें केवल कल्पना की हैं, व्याख्यान की हैं; इनका आचरण में आना सहज नहीं है। ऐसी बात नहीं है। वहाँ देह-भाव नहीं था, आत्मा में रमण हो रहा था। आत्मा में लीन हुए तो देह के प्रति ममत्व भाव टूट गया। जब ऐसी स्थिति बनती है तब देह के साथ भले ही कोई भी घटना घट रही है, वह आत्मा को प्रभावित नहीं करती। वह सोचता है कि ये स्थितियाँ तो शरीर के साथ हैं, मेरी आत्मा तो शाश्वत है, अजर-अमर है, उस पर आँच नहीं आ सकती। तो मैं बाहर क्यों देखूँ अपनी शाश्वत सत्ता को क्यों नहीं देखूँ? जब ऐसी दृष्टि बन जाती है तब वेदना अथवा पीड़ा नहीं होती। तब हर अवस्था में आनंदित हुआ जा सकता है और रहा जा सकता है। पर यह अवस्था तभी बनती है जब हम उस मानसिकता को विकसित करें। पर यदि हम सोचें कि अमुक के कारण हम दुःखी हैं तो समझ लीजिये कि अज्ञान और मोह का पर्दा

पड़ा हुआ है जिस के कारण ज्ञान का पूर्ण प्रकाश विकीर्ण नहीं हो पा रहा है। यदि अज्ञान, मोह, राग, द्वेष आदि दूर हो जायें तो आत्मा में रहने वाला ज्ञान आत्मा के प्रत्येक प्रदेश से प्रस्फुटित होने लगेगा और ऐसी ज्योति प्रकट होगी कि कोई भी प्रदेश अंधकार ग्रस्त नहीं रहेगा। हम जानते हैं कि यदि आकाश मेघाच्छादित हो तो सूर्य-किरणें उपस्थित होने पर भी सर्वत्र दिखाई नहीं देती। जबकि आसोज के महीने में जब आकाश साफ होता है, बादल नहीं होते तब सूर्य की किरणें अपनी सम्पूर्ण प्रखरता में दृष्टिगत होती है और सूर्य की किरणों से आकाश एवं पृथ्वीतल आलोकित हो उठते हैं।

आत्मा का प्रत्येक प्रदेश में प्रकाश हो जाये, केवलालोक से आलोकित हो जाये, ऐसा प्रसंग बनता है मन की सावधानी से। सावधानी से इसलिये क्योंकि क्रोध, मान, माया आदि भाव अन्तर में छिपे बैठे रहते हैं। एक उदाहरण लें- एक व्यक्ति जा रहा है। उस जाते हुए व्यक्ति को कोई गाली दे दे या उससे कोई अनुचित बात कह दे तो उसमें क्या प्रतिक्रिया जाग्रत नहीं होगी ? होगी। इसी प्रकार मान लीजिये आप कहीं भोजन करने पहुंचे, बहुत आग्रह मिन्नत करके आपको निमंत्रित किया गया था। आप भोजन कर रहे हैं और कोई टिप्पणी कर दे-"ये तो खाउकड़े हैं। जहाँ खाने को मिले वहाँ पहुँच जाते हैं।" कहिये इस स्थिति में क्या आप भोजन शांति से कर पायेंगे? कभी नहीं। इसलिए कवि ने कहा है कि यदि जिनेश्वर के चरण ग्रहण करने हैं तो पहले मन को सावधान कर लेना आवश्यक है। क्योंकि ऐसे प्रसंग पर उपसर्ग आंदोलित करेंगे-"श्रेयांसि बहु विघ्नानि" परिषह, उपसर्ग, बाधाएँ आदि आयेंगे। मन सावधान नहीं होगा तो किसी भी अप्रिय टिप्पणी पर भीतर का संतुलन बिगड़ जायेगा। भले ही थोड़ी देर पहले रूच-रूच कर भोजन कर रहे थे पर अब भोजन चाहे कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो उसमें कोई स्वाद नहीं आयेगा। क्योंकि क्रोध-मान के जो कीटाणु अंतर में प्रवेश कर गये हैं, वे तत्काल उभर कर व्यवहार में आ सकते हैं। अतः वहाँ सजग रहना आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में

पहुँचने पर विवेक अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यदि विवेक नहीं है तो साधना में गति नहीं होगी। इसीलिए कहा गया है-

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न बंधइ।।

सावधान रहें तो पाप कर्म का लेप नहीं लगेगा और पुराना हटाते गये तो भीतर का ज्ञान प्रकाशित होने में विलम्ब नहीं होगा।

कभी कभी ऐसी बातें आती है जिनके बीज नहीं होते और जो या तो दुर्लभता से प्रेरित होती हैं या गलतफहमी अथवा असावधानी का परिणाम होती है। परन्तु जो अशांत बना देती हैं या किसी प्रतिक्रिया को जन्म देती है, लेकिन प्रज्ञावान वही है जिसकी बुद्धि निर्मल है। ऐसा व्यक्ति अफवाहों अथवा अप्रिय टिप्पणियों का जवाब नहीं देता। मैं तो यही कहता हूँ कि आप मुंह बंद रखिये, कान भी ज्यादा खुले रखने की आवश्यकता नहीं है, मगर आँखों को जरूर खुला रखिये। कान का सुना भी गलत हो सकता है। देखने की जरूरत ज्यादा है। मुंह कभी मत खोलिये। मुंह खुल गया तो आपकी मनः स्थिति प्रकट हो जायेगी, आपके अज्ञान का पता चल जायेगा। मुंह बंद रहा तो प्रज्ञा जाग्रत रहेगी और आप स्वयं निर्णय ले पाएंगे। इसलिये मन की सजगता के साथ आगे बढ़ें और जीवन को मंगल की दिशा में अग्रसर करें। ऐसा जब कर पायेंगे तभी ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश सर्वत्र विकीर्ण होगा।

□□

11. संबोधि की महिमा

अनंत-अनंत करूणा जिनके हृदय में प्रवाहित हो रही थी, ऐसे श्रमण भगवान् महावीर जिस समय इस धरा पर जन-जन को अपनी दिव्य देशना से लाभान्वित करने तथा संसार से पार उतारने का मार्ग दिखाने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर रहे थे, उस समय संसार में डूबते जीव-जन्तुओं की जो दयनीय दशा उसे अपने केवलालोक में जब उन्होंने देखा तो उससे उनका हृदय करूणा से ओत-प्रोत हो गया। उन्होंने देखा कि अज्ञान और मोह के जल में संसार के प्राणी उन्मुक्त भाव से उसी प्रकार क्रीड़ा-कल्लोल कर रहे थे, जिस प्रकार नदी या तालाब के जल में गर्मी के दिनों में व्यक्ति जलक्रीड़ा करते हैं और अत्यंत सुख का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार विषय, वासना, अज्ञान और मोह के जल में क्रीड़ारत ये प्राणी नहीं जान पा रहे थे कि अज्ञान और मोह का वह पानी जिसमें वे आनंद मना रहे थे उन्हें डुबाने वाला था परन्तु सम्यक् ज्ञान के अभाव में वे इस सत्य को जान नहीं पा रहे थे। ऐसे अज्ञानी प्राणियों को प्रभु ने उपदेश दिया -"संबुज्जह" बोध को प्राप्त हो जाओ।

यह एक प्रखर सत्य है कि अपने अज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति बोधि को प्राप्त करने के लिए सहसा तत्पर नहीं होता। उसके जो संस्कार पड़ गये होते हैं उन्हें वह जल्दी छोड़ नहीं पाता। प्रारंभ से ही ऐसी कोई दृष्टि भी बनी नहीं होती कि वह वैसा चिन्तन कर पाये। हम जानते हैं कि प्रारंभ से ही अथवा जन्म से ही कोई व्यक्ति बीड़ी, सिगरेट या शराब नहीं पीने लगता। परंतु जब एक बार शराब चख लेता है तब उसकी पीने की लत पड़ जाती है और फिर तो वह नशे को ही सुख मानने लगता है। इसलिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति को कुव्यसनों के दुष्परिणाम एवं अवगुण दिखायें और समझायें कि वे जीवन को नष्ट करने वाले हैं तथा

सफलताओं से विश्व में नाम प्रसिद्ध हो सकता है। व्यक्ति भौतिक दृष्टि से सफल-सम्पन्न भी हो सकता है परन्तु इन सब का कोई लाभ नहीं। ये सारी बातें हो भी जायें तो भी वास्तविक उपलब्धि क्या होगी ? आत्मा का क्या कल्याण होगा ? ऐसा व्यक्ति आंटों को बढ़ाता जाता है और आत्मा की संतुष्टि तथा मुक्ति की कामना करता है। यह समझ लेने की बात है कि संसार के भोग सुलभ हैं, दुर्लभ है तो संबोधि का प्राप्त होना। अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में चिन्तन करें। भगवान् ने भी कहा है-

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए।

ज्ञान का प्रकाश करो। पर संबोधि के बिना ज्ञान का प्रकाश नहीं होगा। जब तक मति सुमति नहीं है, कुमति बनी हुई है तब तक सन्मार्ग में प्रवेश नहीं होगा। सन्मति का रूप यदि प्रकट नहीं होगा तो वह ज्ञान आत्मा को आलोकित नहीं कर पायेगा। ज्ञान का प्रकाश तो अज्ञान मोह में भी प्रकट होगा पर वह विशुद्ध नहीं होगा। रत्नप्रभा में भी कहा गया है- काले-काले रत्नों की प्रभा पड़ती है। देवलोक के विमानों की प्रभा अलग है, रत्नप्रभा के पत्थरों की प्रभा अलग है। जैसे दोनों में अन्तर है वैसे ही हमारे ज्ञान के प्रकाश की बात है। एक प्रकाश होता है विशुद्ध और एक में काली झाँई होती है। नाम उसका भी ज्ञान होता है पर सम्बोधि का प्रसंग नहीं हो तो वह ज्ञान अज्ञान ही है। वह निर्मल नहीं है, उसका जो प्रकाश है वह वैसा विशुद्ध नहीं जैसी सूर्य की किरणें होती हैं। सूर्य किरणें होंगी तो पर काली दिखेंगी क्योंकि अज्ञान अंधकार छाया रहेगा। अतः सही तरीके से देख पाना संभव नहीं होगा। प्रभु ने उन्हीं अज्ञान और मोह में डूबे व्यक्तियों के लिए कहा है-"संबोधि खलुपेच्च दुल्लहा"-संबोधि दुर्लभ है। कभी व्यक्ति को बोधि मिल जाय तो कहता नहीं, कहने की आवश्यकता भी नहीं। दूसरों को प्रमाण क्यों दें ? निश्चय का ज्ञान नैश्चयिक दृष्टि के बिना आधार के, नहीं जाना जा सकता है। वह आधारं तीर्थंकर ज्ञानीजनों के पास है। वे बता सकते हैं। पर व्यवहार-वर्तन के आधार पर तीर्थंकरों ने जो निर्देश दिये हैं साधक उसी आधार पर निर्णय करते हैं। यदि बोधि मिल जाय तो उसकी

गति-प्रवृति क्या होनी चाहिए स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि सुलभ बोधि किससे होती है और दुर्लभ बोधि किससे होती है। एक तो ऐसा आचरण होता है जो बोधि के द्वार तक नहीं पहुँच पाता है और एक धीरे-धीरे गति करता हुआ भी निश्चित रूप से द्वार तक पहुँच सकता है तथा संसार में न गोते लगाता है, न अज्ञान में ही भटकता है। सुलभ बोधि अर्थात् ऐसा आचरण जिससे सुलभता से बोधि प्राप्त हो जाय। दुर्लभ बोधि वह है जो-१. अरिहन्त का अवर्णवाद करता है। २. अरिहन्त प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करता है। ३. आचार्य उपाध्याय की निन्दा करता है। ४. संघ की निन्दा करता है। ५. देवों की निन्दा करता है। अथवा ऐसे ही किसी देव, गुरू और धर्म के प्रति किसी भी प्रकार से अथवा किसी भी रूप में अनास्था प्रकट करता है।

कई भाई हमसे भी कह देते हैं कि आपके संबंध में ऐसी-वैसी चर्चा हो रही है। तो उसमें चिंता की क्या बात है ? लोगों ने तो तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ा तो हम किस खेत की मूली हैं ? हमारा अस्तित्व ही क्या है ? तीर्थंकर कहलाने वालों की अलग ही प्रकार की वीतरागता थी। ऐसा भी हो सकता है कि एक सिंहासन पर दूसरा सिंहासन हो, छत्रातिछत्र हों, चंवर डोलाये जा रहे हों फिर कहते हों कि ये वीतराग हैं। परन्तु वीतरागता को व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से ही ग्रहण करता है यह व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। कृष्ण के विषय में चली चर्चा पर विचार करें। शक्रेन्द्र ने कहा कि वे गुणग्राही हैं, अवगुणों की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। अब देखें, यात्रा निकल रही थी। एक दुर्गन्ध फैलाती कुतिया मार्ग में खड़ी थी जिसके कान सड़ गये थे। तीव्र बदबू आ रही थी, लोग नाक ढकने लगे। बात भी ऐसी ही थी। लेकिन कृष्ण ने उधर ध्यान नहीं दिया और कहने लगे कि-उसकी दंत पंक्ति मोती की तरह चमक रही है। कितनी सुन्दरता से दांत जड़े हैं मानो मोतियों की पंक्ति हो। दाँत सुन्दर थे और गंध भी आ रही थी, दोनों चीजें थीं। एक तरफ फूलों का गुलदस्ता और एक ओर मल का ढेर। फूल पर निगाह जल्दी नहीं जायेगी पर गन्दगी पर जरूर जायेगी। मनुष्य भला

गंदगी को क्यों देखता है, फूल को क्यों नहीं देखता? आचार्य भगवन् एक उदाहरण देते हैं। एक भाई को बंगले में ले जाकर घुमाया, सुन्दर सुसज्जित बंगले के विभिन्न भाग दिखाये। सब कुछ देखने के बाद वह कहने लगा, कैसे मूर्ख लोग हैं यहाँ लेटरीन भी बना दी, बाथरूम भी बना दिया। देखिए दृष्टि कहाँ गई? ऐसी दृष्टि वाले बोधि की ओर नहीं बढ़ सकते। वे दुर्लभ-बोधि होते हैं। अरिहन्त की निन्दा से उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा पर तू दुर्लभ बोधि हो जायेगा।

कितने भवों में मनुष्य का जन्म मिला, फिर जातिपथ में चला गया तो फिर निगोद में हाय-हाय, त्राहि-त्राहि करेगा, वहाँ सम्बल नहीं मिलेगा। देखिये, पुराने महापुरूषों ने चेतन को संबोधित कर कितनी सुन्दर बात कही है-'चेतन चेतो रे! दस बोल जगत में दुर्लभ मिलिया रे। चेतन चेतो रे।' चेतन, का मतलब? सावधान हो जाओ। सावधान नहीं हुए तो आई थाली, परोसा हुआ भोजन कोई कुत्ता या बिल्ली आकर खा जायेगी और तुम भूखे रह जाओगे। इसीलिए कहा गया है-चेतो! जागो! जागो! चेतन चेतो! जरा सोचो कि कितनी कठिनाई से दस बोल मिले हैं, मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र आदि। इनका कैसा उपयोग कर रहा है? राखोड़े में घी डाल रहा है या घी का सदुपयोग कर रहा है? न जाने कैसी-कैसी चर्चाओं में जीवन बर्बाद हो रहा है। ऐसी चर्चाओं में तीर्थंकर, अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, संघ आदि की निन्दा कर तू कहीं अपने आपको दुर्लभ-बोधि तो नहीं बना रहा है? अरिहन्त तो सर्वज्ञ हैं। अरिहंत प्ररूपित धर्म की जमाली ने निन्दा की, भगवान की नहीं की। गोशालक ने भगवान की निन्दा की, पर जमाली ने भगवान के सिद्धांतों की निन्दा की। 'चलमाणे' चलिए ये सिद्धांत कैसे हो सकता है? यह गलत है, सही नहीं है। भगवान के कथन का अपमान किया, तिरस्कार किया तो संसार बढ़ाने वाला बना। इन स्थितियों पर चिन्तन की आवश्यकता है। शास्त्रकार कहते हैं- इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय या इनके अलावा चतुर्वर्ण अर्थात् साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप जो संघ हैं उसका अवर्णवाद न करें। ऐसा अवर्णवाद करने वाले तो दुर्लभ

बोधि ही होते हैं। शास्त्र उठाकर देखिये तो मालूम पड़ेगा कि जो ऐसी बातें करते हैं, उनकी अपनी चिन्तन की कोई आधार भूमि ही नहीं होती। ज्ञान का कोई धरातल नहीं परन्तु न जाने कहाँ-कहाँ की बातें कर लेते हैं। यह विचार करने की आवश्यकता है कि कितने पुण्यों का संग्रह किया तब यह मनुष्य का जन्म मिला-बहुपुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव नो मल्यो...। बहुत पुण्य की पूंजी इकट्ठी कर ली और नल या युधिष्ठिर की भाँति दाव खेलते गये और द्रौपदी तक को दाँव पर लगा दिया। तो सोचिये आपका क्या बचा? ऐसी स्थिति में तो आपके पास की पुण्यवानी भी चली जायेगी।

जब तक दिये में तेल है, लौ जल रही है तब तक दूसरा दीपक जला लो, नहीं तो वह लौ तो जाने ही वाली है। हम किस धरातल पर बात करते हैं? चतुर्विध संघ क्या है, केवल संघ से क्या होना जाना है। ऐसी बातें करने वाला केवल अपने अहं का प्रदर्शन करता है। ऐसे लोग क्या संघ के हिमायती हो सकते हैं? नहीं, वे तो स्वयं के भी हिमायती नहीं हैं। स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं। परन्तु हम क्यों उसकी निन्दा करें ? हम तो सोचें वह भला आदमी है, हमें सजग होकर जीने का अवसर दे रहा है ताकि हम कहीं प्रमाद में न चले जायें। शांतक्रान्ति के अग्रदूत स्वर्गीय गणेशाचार्य फरमाते थे-"निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटि छवाय" तू मेरे समीप रहेगा तो मेरी धुलाई करता रहेगा। मेरे अवगुण हटाता चला जावेगा। हम या आप, कोई भी हों निन्दक के प्रति बुरे विचार न रखें बल्कि वैसे पर करूणा भाव रखें। भगवान महावीर की संगम पर करूणा-दृष्टि थी। संगम ने उन्हें कितने कठिन उपसर्ग दिये पर भगवान ने आँख तक टेढी नहीं की। यदि एक टेढ़ी निगाह डाल देते तो संगम की जो दुर्गति होती वह हम समझ सकते हैं। शकेन्द्र स्वयं सेवा में रहने को तैयार थे। जम्बू स्वामी के घर चोर धन इकट्ठा कर लिया जाने की तैयारी करने लगे। जम्बूकुमार के मन में सिर्फ एक विचार आया-'आज की रात ये धन न जाये तो अच्छा' और चोरों के पैर चिपक गये। वैसे ही अगर भगवान भी टेढी नजर कर लेते तो ? पर नहीं, वहाँ तो अपार करूणा का झरना अजस्र रूप से

तो सम्पूर्ण संदर्भ स्पष्ट हो जायेगा। आगे यह बात भी कही गई है कि हिंसानुप्रक्षी वह है जो आचार्य, उपाध्याय की हिंसा का अवसर देख रहा हो कि कब उसे वैसा करने का मौका मिले। इस संबंध में जो पाँच कारण बताये गये हैं कतिपय हैं–स्वकुल में रहकर स्वकुल में भेद डालने वाला, स्व-गण में भेद डालने वाला, हिंसानुप्रेक्षी, आचार्य, उपाध्याय के घात का मौका देखने वाला। आप कहेंगे क्या ऐसा भी हो सकता है? बंधुओं! ये संसार है। अनादिकाल से वासना के संस्कारों में जो जीव रूलता रहा है वह उद्वेग, आवेग कहाँ ले जाये उसे पता नहीं। प्रसन्नचंद राजर्षि उसी भव में मुक्ति जाने वाले और वे वहीं खड़े-खड़े पाँच सौ व्यक्तियों की घात कर लें, यह कोई सोच सकता है ? हालांकि उन्होंने बाहर से घात नहीं की पर भीतर कर ली। भगवान् से पूछा गया कि वे कहाँ जायेंगे? उत्तर मिला–सातवीं नरक में। सुनने और कहने में कुछ अटपटा लगता है। साधु की पोशाक थी पर भगवान ने मुलाहिजा नहीं किया। पोशाक के धनुष पर तीर चढ़ा कर ५०० की हत्या कर दी तो भगवान ने कहा –अभी काल करे तो सातवीं नरक का मेहमान है। भगवान ने यह क्या किया, विचार नहीं किया? हमें भी सोचना है क़ि मनुष्य का जन्म मिला है, साधु नहीं बन सके, श्रावक के कुल में आये पर जैन कुल के नियमों का पालन नहीं किया तो क्या हमें नरक नहीं मिलेगी? क्या हम दुर्लभ-बोधि नहीं बनेंगे? जैन कुल में जन्म लेना कोई प्रमाण पत्र नहीं है कि हम धर्मात्मा हैं, पाटिया के श्रावक हैं, धर्म के धोरी हैं। ऐसे नहीं होगा। यदि जीवन में आध्यात्मिकता नहीं तो क्या पोशाक से दुनिया को रिझा लेंगे कि ये बहुत धर्मात्मा हैं ? पर अपनी आत्मा स्वयं निर्णय करने वाली होती है, वह जानती है कि स्वयं की दशा क्या है। जब तक अपनी आत्मा का प्रतिलेखन नहीं होगा तब तक सुलभ बोधि नहीं बन पायेंगे। बात करने से पूर्व सोचो, समझो मेरी बात। तीर्थंकर संघ के विषय में कहीं कलुषित विचार रखने वाले तो आप नहीं हैं। ऐसा न हो कि कुछ काम नहीं मिला, जुबान मिली है तो कुछ भी बोल दें। मैं सदा कहता हुँ कि ऐसा विचार जिसके बीज नहीं, जिसके लिये जमीन नहीं वह कहाँ

टिकेगा? ऐसे बिना बीज और जमीन के पौधे उगाने का प्रयास करने वाले सुलभ बोधि नहीं बन सकते। भगवान कह रहे हैं –"संबुज्जह" आप कहेंगे महाराज भी पुरानी बातें करते हैं। आज के युग में जीना है तो कुछ और भी सोचना पड़ेगा। भाई, तुम्हें इसी में सुख लगता हो तो भगवान् ने यह भी कहा है- अहासुहं।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।

सुन लो, सुनने के बाद जिसमें आनन्द आवे, जो श्रेयस्कर लगे उसके बारे में अपने आप निर्णय कर लो। भगवान् ने यह नहीं कहा कि इसी पर चलना पड़ेगा। निर्णय तुम्हें करना है, पर महत्वपूर्ण यह है कि तुममें निर्णय करने की क्षमता है या नहीं ? यदि नहीं है तो शक्ति और क्षमता कुपथ पर भटका सकती हैं। भगवान् ने भी बुद्धि को सम्बोधित किया और कवि ने भी–"धारो जिनपद सेव ललना।" ललना बुद्धि का सम्बोधन है। इसका भी बहुत सम्बन्ध रहा हुआ है। राशि का मिलान तो है ही- बुद्धि और बोधि में बुद्धि निर्मल है तो बोधि भी देर-सवेर हो सकती है। बुद्धि है तो बोधि संभव है। बुद्धि निर्मल है तो महानिर्जरा, महापर्यवसान कर सकते हैं। लेकिन बहुत से व्यक्ति सोचते नहीं हैं, प्रवाह में बहने वाले होते हैं। प्रवाहपाती भी सही लाइन पर चले तो गड़बड़ी नहीं होती। कभी-कभी पहाड़ पर पगडंडी होती है। विहार करते समय मैं भी उस पर चला गया था, तो गुरूदेव ने बताया था कि ये पगडंडी नहीं है। पशु चरते हुए जाते हैं जिससे यह पगडंडी-सी बन गई है। किन्तु जहाँ तक वे जाकर लौटते हैं वहाँ से आगे यह लुप्त हो जाती है। यह मार्ग नहीं है। कभी हम भी भटके हैं। ये ऊपर के मार्ग हैं पर अंदर के मार्ग में भटकें तो बोध नहीं होता इसीलिए भगवान् ने तो कहा ही है, पर पूर्व पुरूषों ने भी कहा है-

चेतन चेतो रे दस बोल जगत में मुश्किल मिलिया रे
चेतन चेतो रे ....।

अवसर आ गया है। नहीं चेते और गफलत में नींद लेते रहे,

सोते रहे तो सभी कुछ अनिश्चित ही रहेगा। पर सोना भी बुरा नहीं है। भगवान् से पूछा गया- सोना अच्छा या जागना। भगवान् ने कहा- जो पापी हैं वे नहीं जागें। उनका सोना या सोते रहना ही अच्छा है। जागने पर वे पाप कार्य करेंगे। उनका सोना ही ठीक है। ऐसी स्थिति में सुलभ बोधि नहीं हो सकते, वे तो हवाई किले ही खड़े करते हैं। ठीक है, काया की भी एक प्रवृत्ति होती है। पर मन-वचन से भी सातवीं नरक का द्वार खोला जा सकता है। इसीलिए भगवान ने कहा है- बोधि प्राप्त कर जगें तो सही। ऐसे करूणाशील पुरूषों के विपय में क्या विचार करें, पर दुर्लभ बोधि उसी में आनंद मानता है। जिसे बोधि प्रिय है वह बोधि का चिन्तन करे। जो नहीं है वह तो अपने-अपने गज, मीटर से नापने का प्रयत्न करता है। जो मीटर कपड़े नापने का है उससे अनाज नहीं तोल सकते हैं। पूरी ट्रक तोलना है तो क्या चाहिये- धर्म काँटा। उसे धर्म काँटे पर खड़ा करना होगा, उस पर सोना नहीं तोलते हैं। सोने से भरी ट्रक तोल सकते हैं, पर एक-दो भरी सोना तोलना है तो उसका काँटा अलग होगा। तौल सबके अलग-अलग होते हैं। एक ही गज, मीटर, किलो, सेर से भी सभी को नापने या तौलने का प्रयत्न किया जाय तो काम चलने का नहीं है। हम विचार करें चतुर्विध संघ की सेवा, गुणगान करें, उसमें रहने वाले हैं-उनके जीवन के सौरभ को महकाने का कार्य करें, ऐसा करने वाले लोग सुलभ बोधि होंगे। यह विचार ही गलत है कि संघ क्या है, संघ में क्या पड़ा है, व्यक्ति तो आता है चला जाता है ? इसी प्रकार यदि मैं सोचूं, मेरे बल पर ही काम हो रहा है तो समझ लीजिये कि मैं क्या हूँ ? जिनेश्वर देवों का यह शासन २१००० वर्ष तक चलेगा, मैं क्या २१००० वर्ष तक रहूँगा ? यदि दो बिन्दी हटा भी दें तो २१० वर्ष रहेंगे। उतने भी जीने को मिलेंगे नहीं। इसलिये इस प्रकार का अहं मेरी नासमझी होगी। ये तीर्थंकरों का शासन चल रहा है, चलता रहेगा। हम सोचें कि इस शासन में क्या रखा है, क्या रह जायेगा, इससे क्या होना है, तो यह तो समय दिखलायेगा, पर इसके पीछे अपना भविष्य क्यों बिगाड़ लें ? जीवन में गुणमय दृष्टि लेकर क्यों न चलें ? गुण-दृष्टि

से देखें तो संघ-सेवा से प्रभु ने जो बोधि प्राप्त होना बताया है उसे प्राप्त कर सकते हैं। बोधि भी कैसे प्राप्त कर सकते हैं उसके भी कारण हैं और दुर्लभ बोधि के भी कारण हैं। महानिर्जरा, महापर्यवसान के भी कारण बताये गये हैं और इन सभी में संघ का महत्व है, सभी में संघ आया है। ऐसे संघ का अनुसरण करते हुए सुलभ बोधि बन सकते हैं। संघ सेवा करते हुए उत्कृष्ट रसायन प्राप्त करें, कर्मो की कोटि खपावें और तीर्थंकर नाम का सहारा लें। क्या संघ छोटा है ? संघ मामूली है ? नहीं, संघ विशाल है। संघ में सभी का समावेश हो जाता है। संघ शासन की जो एकत्वभाव से सेवा करता है वह महानिर्जरा, महापर्यवसान करता है। और संघ में जो छेद-भेद करता है वह दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार महामोहनीय कर्म-बंध करता है। महामोहनीय का बंध किया तो बोधि दुर्लभ होगी। इन बातों को ध्यान में रखें। मुख्य बात है कि यदि साधक जीवन है तो उसका धरातल भी हो। कवि ने कहा है- सावधान मनसा करी ....। मन सावधान होगा तभी साधना में नियोजित होगा अन्यथा साधना हो नहीं पायेगी। साधक कहला सकते हो, पर साधक हो नहीं सकते। साधक कहलाने की बात सरल है, पर होने की बात कठिन है। इन बातों पर विचार करें।

जिनेश्वर देवों की सेवा करनी है तो मन को सावधान करो- "सावधान मनसा करी" यह ऐसा पद है जिसका दोहन करने की आवश्यकता है। यह एक ऐसी कामधेनू है जिसका चाहे जितना दूध निकालो, अंत नहीं आयेगा। पर मन को सावधान कैसे करें? जितना भी फैलाव है उसे समेटकर जिनेश्वर के चरणों में नियोजित कर लें तो जीवन की हुंडी सिकर सकती है, और जीवन में शांति, आनन्द, सुख की अनुभूति हो सकती है। संबोधि प्राप्ति का मार्ग भी यही है।

□□

12. सुख-शांति का रहस्य

दुःख दोहग्ग दूरे टल्यारे, सुख सम्पति सुं भेंट

प्रत्येक व्यक्ति की चाह रहती है कि मैं जीवन में शांतिपूर्वक जीऊँ, सुखपूर्वक जीऊँ और जीवन में मुझे अपेक्षित सफलता प्राप्त हो जाये। देव हो चाहे मनुष्य, लगभग ऐसी ही भावना प्रायः सभी की रही है। इसी के आधार पर जीवन में दुस्साहसिक कार्य कर लिये जाते हैं और संघर्षशील भी बना जाता है। पर ऐसा क्यों ? इसके पीछे भाव क्या रहता है ? यह कि मुझे सुख मिल जाय। पर सुख है कहाँ ? क्या उसकी कल्पना भी उसके हृदय के भीतर होती है ? विचार कीजिये, चाँद पानी में प्रतिबिम्ब-रूप में है और उसे पकड़ने के लिए कोई बालक कोशिश करे तो क्या वह चाँद को पकड़ पायेगा ? नहीं। वैसे ही सुख की मानव की कल्पना होती है। वह उस सुख के लिये दौड़ता है। सोचता है, मेरे हाथ में सुख आ जायेगा। कई बार लगता है कि सुख हाथ में आ गया पर देखता है कि हाथ खाली है। सुख के लिये वह फिर दौड़ता है पर हाथ खाली ही रहता है, सुख पकड़ में नहीं आता।

कभी छत से दूर देखते हैं तो जमीन-आकाश एक हुए लगते हैं, मिले हुए दिखते हैं। कोई सोचे- चलो इतने किलोमीटर की यात्रा कर लें, आगे दोनों मिले हुए-एक हुए मिल जायेंगे। पर वहाँ पहुँचने पर फिर आगे उतनी ही दूरी पर एक हुआ जमीन-आकाश दिखाई देता है। ऐसी कितनी हीं दूरियों तक वह दौड़ लगा ले पर क्या जमीन और आकाश एक हुए मिल जायेंगे ? नहीं। मृग मरीचिका है। जैसे जल की खोज में भटकता मृग कभी उसकी प्राप्ति में सफल नहीं होता, वैसे ही सुख की मृग-मरीचिका के पीछे मानव दौड़ता है-पर सुख कभी प्राप्त नहीं कर पाता।

सुख शांति के लिए वह न जाने कितनी कामनाएँ करता है। थोड़ी देर के लिये एक कामना पूर्ण भी हो जाये तो तत्काल दूसरी कामना जन्म ले लेती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आप में उलझता तो चला जाता है परन्तु सुख-शांति प्राप्त नहीं कर पाता। क्योंकि दुःख-दुर्भाग्य की रेखा हरदम पीछे लगी रहती है। ऐसे में क्या वह सुखी हो सकता है ?

कल्पना कीजिये, एक अपराधी है। जिसकी सजा का दिन नियत हो गया है कि अमुक दिन उसे फांसी पर लटकाया जायेगा। उस दिन हथकड़ियों-बेड़ियों से मुक्त कर स्वादिष्ट पकवान-मिष्टान उसके सम्मुख रखकर उससे कहें कि तुम मन भर के सुरूचिपूर्ण भोजन करो, तो क्या वे मिष्टान उस अपराधी को मीठे लगेंगे ? आप भी कल्पना कीजिये। आप कहीं मेहमानगिरी के लिये पहुँचे। सामने मधुर पकवान हैं और कहा जाय भोजन कीजिये। भोजन के आसन (थाल) के ऊपर नंगी तलवार कच्चे धागे से बन्धी लटक रही है। पता नहीं कब धागा टूट जाय और तलवार भोजन करने वाले के ऊपर गिर जाय ? ऐसी हालत में उसके नीचे बैठ कर क्या आप भोजन कर पायेंगे ?

बन्धुओं ! सुख-शांति भी मिलती है। यदि सुख का, नाम का, वाच्यार्थ न होता तो इस शब्द की रचना नहीं होती। शांति नाम का वाच्यार्थ है। सुख नाम का वाच्यार्थ भी है। दो शब्दों को जोड़ने पर अर्थ मिले या न मिले पर शुद्ध पद का अर्थ होता है। जैसे आकाश-कुसुम दोनों के जुड़ने पर वह वस्तु या अवस्था कभी मिले या न मिले पर यदि उन्हें अलग कर दिया जाय तो आकाश भी मिलता है, कुसुम भी। गधे के सींग नहीं मिलते, पर अलग-अलग सींग और गधे दोनों मिलते हैं। तब यह समझ लें कि सुख और शांति दोनों अलग-अलग शुद्ध पद हैं। यह बात अलग है कि हम उनसे परिचित हों या न हों। परन्तु शुद्ध पद वाले पदार्थों का अभाव नहीं होता। बहुत सी चीजें ऐसी हैं जिन्हें हम नहीं जानते हैं। ५० वर्ष पहले टी.वी. भी ऐसी चीज था? क्या पता था कि ऐसी चीज

भी मिल जायेगी जिसमें आदमी दौड़ते दिखेंगे ? १०० वर्ष पहले व्यक्तियों ने क्या ऐसी कल्पना भी की होगी ? आज भी ऐसी अनेक चीजे हैं जिन्हें हम नहीं जानते तो क्या उनका अभाव हो गया ? अभाव नहीं है, किन्तु हम उन्हें जान नहीं पा रहे हैं।

जिस प्रकार दुनिया में पदार्थों की कमी नहीं है पर हमारा उनसे परिचय नहीं होता है, उसी प्रकार यदि दुनियां में सुख-शांति शब्दों का प्रचलन है तो इनके वाच्यार्थ का आधार भी कुछ न कुछ रहा है। हो सकता है अभी हम वहाँ तक नहीं पहुँचे हैं इसलिये हम अशांत और दुःखी हैं। जब तक हम चाह तक नहीं पहुँच पाते हैं तो थोड़ा हताश हो जाते हैं। गर्मी में पतंगे लाइट के पास प्रकाश में सुख पाना चाहते हैं इसलिए वे उस पर झपटते हैं। पुनः पुनः नीचे गिर जाते हैं फिर भी झपटते रहते हैं और नीचे गिरते रहते हैं। ऐसी ही दशा मानव की है। पर ज्ञानीजन कहते हैं- यदि तुम वस्तुतः सुख-शांति चाहते हो तो अपने में थोड़ा-सा परिवर्तन ले आओ। कोई राह पकड़ लो, मुंह मोड़ लो, तो सफलता मिलेगी।

व्यक्ति चौराहे पर पहुँच जाय और चक्कर लगाता रहे तो मंजिल तक नहीं पहुँचेगा। स्कूटर से चौराहे पर चक्कर लगाने वाला या राउण्ड लेने वाला व्यक्ति घर पहुँच जायेगा क्या ? नहीं। पर यदि राह सही पकड़ता है तो देर-सवेर मंजिल भी मिल ही जायेगी।

सुख की मंजिल पाने के लिये भी राह पकड़नी होगी। मान लीजिए कोई शत्रु आपको परेशान कर रहा है तो आप क्या करेंगे? प्रतिकार करेंगे। ठीक है, पर यदि आप में प्रतिकार करने की क्षमता नहीं है तो क्या करेंगे ? तो दब जायेंगे, झुक जायेंगे। यह बात भी सही है कि उस समय आप दब जायेंगे या झुक जायेंगे पर आपको यदि यह मालूम हो कि आपका मामा या अंकल अथवा कोई अन्य रिश्तेदार चीफ सेक्रेटरी है तो आप क्या उनसे सम्पर्क नहीं जोड़ेंगे? ऐसी स्थिति में आप यों ही तबाह होते चले जायेंगे या अंकल आदि समर्थ पुरूष का सहारा लेंगे ? निश्चित रूप से सहारा लेंगे। आपने जिसका सहारा लिया वह यदि प्रतिष्ठित है, इज्जतवाला है, तो वह

सहयोग के लिये कटिबद्ध होगा ही। यदि वह आपकी सारी जिम्मेदारी ले ले तो आपको चिंता रहेगी क्या ? थोड़ा सा मन में संशय भले ही रहे कि पता नहीं क्या होगा ? पर यह तो पक्का विश्वास हो जायेगा कि अब इसके बाद आपको कोई भी तबाह नही कर पायेगा क्योंकि आपने ऐसे व्यक्ति का सहारा ले लिया है जो पूर्ण सक्षम है। अध्यात्म कवि आनन्दघनजी कहते हैं- धींग धणी माथे कियो रे ....। हम जानते हैं कि यदि कहीं सड़क पर डामर गहरा लगा हो तो दूर से देखने पर सड़क पर धूप के कारण पानी का भ्रम हो जाता है। पानी जैसी चमक वहाँ पर होती है पर वस्तुतः पानी वहाँ पर नहीं होता है।

इसी प्रकार यदि आपने महाभारत पढ़ा हो तो वहाँ प्रसंग आता है कि पाण्डवों के महलों की रचना ऐसी थी कि दुर्योधन पानी के भ्रम से जमीन पर धोती ऊँची लेकर चलता था, पर जहां पानी होता था वहाँ उसे जमीन का भ्रम होता था। इस प्रकार की बनावट यदि होती है तो लोग थोड़ा चक्कर में पड़ जाते हैं। कभी-कभी घरों में टाईल्स पर यों सीधा देखें तब तो पानी नहीं दिखेगा पर जरा तिरछे होकर देखें तो गीलापन दिखाई देगा। इस प्रकार की भ्रान्ति होना कठिन नहीं है।

कवि आनन्दघनजी कहते हैं मैं भी ऐसी भ्रान्ति में बहुत भटका। यहाँ-वहाँ पतंगे की भांति झंझावात करता रहा फिर भी सुख-शांति नहीं मिली। किन्तु ज्यों ही मैंने धींग धणी माथे किया रे, कोण गंजे नर खेड़-धींगं धणी माथे किया रे। मैं निश्चिंत हो गया। धींग किसे कहते हैं ? कानोड़ में तो धींगों की घाटी है। यहां भी है कोई धींग ? धींग कहते हैं समर्थ पुरूषों को, धणी कहते हैं स्वामी को। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं- मैंने समर्थ, शक्ति-सम्पन्न पुरूष को अपना स्वामी बना लिया है, अतः अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है।

महासती सीता जी ने राम का वरण कर लिया था फिर भले ही रावण की अशोक वाटिका में बैठी हों क्या उन्हें कोई चिंता थी?

अपने हाल में बैठी थीं। क्या चिंता थी उन्हें कि रावण उनका कुछ बिगाड़ लेगा ? नहीं, उन्हें यह पूर्ण विश्वास था श्री राम के रहते रावण क्या, कोई भी उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेगा। चाहे उसकी अशोक वाटिका में कितने ही पहरेदार रहें पर यदि मैंने राम के सिवा किसी भी अन्य पुरूष को गलत भावना से नहीं देखा है तो कोई भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। रावण ने उन्हें अनेक प्रकार के प्रलोभन भी दिये किन्तु वे वीरांगना नारी थीं, उन्होंने रावण को भी जवाब दे दिया –

"तू दूर रहे दुराचारी रे–सपना में वांछू नाहिं।"

भाषा इसकी थोड़ी गुजराती है पर भाव बड़े गहरे हैं। सीता कह रही है- तू दुराचारी है, धिक्कार है तुझे जो मेरे हाथ लगाने की चेष्टा भी की। तेरी माता को भी धिक्कार है जिसने तेरे जैसे पुत्र को जन्म दिया।

कितना साहस था महासती सीता के जीवन में। अरे, अपनी गली में तो कुत्ते भी शेर होकर फिरते हैं। किन्तु बाहर, जिसके घर में रह रहे हैं उन्ही से कहना- उलट मुख बोल रे लम्पट पट मत खोल रे। अपनी पीड़ा किसे कहे। यह कपट की मुट्ठी बन्द रहने दे। ऐसा मत बोल जिससे तेरे पट्ट खुल जायें। साथ ही माता को भी धिक्कार दी। माता को क्यों ? माता ने क्या किया था ? इसलिये कि जो जातिवान हो, कुलवान हो वह कभी ऐसी गलत हरकत नहीं कर सकता। पर यदि गलत हरकत करता है तो जरूर उसके पीछे कोई न कोई आनुवांशिक संस्कार रहे हैं।

एक नौकर (बालक) को राजा ने आधी रात में गहरी नींद से जगाया। कटार की नोक चुभाकर पूछा- जग रहे हो क्या ? बालक ने कहा- "राजन ! जग रहा हूँ।" "जग रहा है तो क्या कर रहा है ? क्या सोच रहा है?" "हां राजन, मैं सोच रहा था कि आपके कितने पिता हैं?" राजा को आश्चर्य हुआ। मेरे कितने पिता हैं? अरे मैं तो अमुक राजा की सन्तान हूं। इस दृष्टि से एक ही पिता है।

फिर कुछ क्षण रूककर राजा ने अपने भावों को मन में छिपाते हुए कहा-"अच्छा तो क्या निर्णय किया तुमने ? बताओ, मैं कितने पिता की सन्तान हूँ ?"

बालक ने उत्तर दिया-"राजन ! आप पाँच पिताओं की सन्तान हैं।" राजा अचंभित हुआ, क्या कहा-"पाँच पिता ? द्रोपदी के पुत्रों के लिए यह कहो तो गलत नहीं, लेकिन वे भी पाँच पिता की सन्तान नहीं हो सकते क्योंकि द्रोपदी के पाँच पति होते हुए भी एक सन्तान का पिता तो एक ही होगा।" सम्राट को रोष आ गया। "मैं और पाँच पिता की सन्तान कैसे?"

बालक ने कहा- राजन अपनी माँ से पूछो। १. तेली २. बिच्छू ३. आपके पिता ....। यों पाँच के नाम बताये। राजा से रहा नहीं गया। माँ से पूछा। माँ ने कहा- बेटा, आज तू कैसी बात कह रहा है, तू अपने पिता की सन्तान है। राजा ने कहा- सच-सच बताओ इन पाँचों से तुम्हारा कोई संबंध रहा है क्या ? माँ ने बताया- अमुक-अमुक प्रसंग पर अमुक-अमुक को देखकर मेरा मन थोड़ा विचलित हुआ था। तो उसके पीछे थोड़े-थोड़े संस्कार तुम्हारी आत्मा से जुड़ गये। राजा को माँ की बात सुनकर निश्चय हो गया। और वह आश्चर्य करने लगा कि वह बालक है, पर ज्ञान कितना है ? हल्के से सम्पर्क से भी पहचान लिया।

अतः बालक में कभी गलत संस्कार दिखें तो उसके लिये उसके माता-पिता को भी उत्तरदायी मानते हैं। आप पुराने शास्त्रों को उठाकर देख लें। गर्भ के समय जैसी माता की मानसिकता होती है वैसा ही सन्तान पर प्रभाव पडता है। यदि माता, सास-ससुर के प्रति बुरा व्यवहार अथवा लड़ाई-झगड़े करती है, उन्हें यातना देती है पर स्वयं के लिये चाहती है कि उसे सन्तान-सुख मिले तो वह ऐसी आशा कभी न करे। यदि आप सन्तान-सुख चाहते हों तो प्यार का व्यवहार हर इन्सान के साथ कीजिए, तब निश्चित रूप से आपकी सन्तान वैसी ही प्यार करने वाली होगी इसमें कहीं भी अतिशयोक्ति नहीं है। सीता भी लम्पट कहकर रावण की माँ को

धिक्कार रही है। यह प्रसंग तो बहुत लम्बा है पर यदि कोई जातिवान कन्या है तो वह कहती है कि मैंने यदि एक बार अमुक को पति रूप में वर लिया तो दूसरे व्यक्ति मेरे पिता या भाई तुल्य हो गये।

राजीमती ने मन से अरिष्टनेमि को वर लिया। उसने मन में न जाने क्या-क्या अरमान संजोये होंगे- मैं उनके गले में वरमाला डालूँगी। उनके मन में भी एक प्रकार की गुदगुदी पैदा हो रही होगी, परन्तु जब वे तोरण पर आये तो पशुओं के बाड़े को देख कर तथा पशुओं की चीत्कार को सुन कर कंपित हो उठे। उन्होंने सारथि से पूछा-

> कस्सट्ठा इमे पाणा, ए ए सव्वे सुहेसिणो।
> वाडेहिं पंजरेहिं च सन्तिरुद्धा य अच्छहिं ।।

सारथि ने कहा-"तुज्झ विवाह कज्जंमि भोयावेडं बहु जणा।" तुम्हारे विवाह में आने वाले लोगों को भोज देने के लिए। वे कहने लगे-

> जइ मज्झ कारणा ए ए हम्मिहिंति बहूजिया।
> न मे एयं तु जिस्सेस परलोगे भविस्सई ।।

यदि मेरे कारण से इन बहुत से प्राणियों का वध होगा तो यह परलोक में मेरे लिये निःश्रेयस्कर होगा। उन्हें यह पीड़ा हुई कि अरे! एक मेरे संबंध के कारण अनेक जीवों का सत्यानाश (घात) हो जायेगा। कोई हीन होगा कोई बल विहीन होगा। कितने जोड़ों की हालत खराब होगी तो किसी के बहन नहीं रहेगी। इस प्रकार कितने ही घर उजड़ जायेंगे एक घर बसाने में ?

उनका चिन्तन आगे बढ़ा। मेरे कारण इनका सारा संसार छिन्न-भिन्न हो जायेगा। एक मेरा संसार बसाने के लिए क्या इतने जीवों की हत्या होने दूँ ? उनके आशय को सारथी ने समझा और बाड़ा खोल दिया। सारे पशु मानो आशीर्वाद देने लगे-"हे, अरिष्टनेमि! तुम्हारा कल्याण हो।"

और आज अरिष्टनेमि की आराधना करने वालों, क्या तु
आवाज आती है उन पशुओं की, जिनकी बली दी जाती है ? अ
पशु की क्या अपनी सन्तान की भी आवाज आती है ? गर्भस्थ शि
की करूण आवाज तक हम नहीं सुन पा रहे हैं। भ्रूण नष्ट कर
के लिए जब नली डाली जाती है तब कैसी भयंकर चित्कार कर
है वह बालक ? कैसे इधर-उधर बचने के लिए दौड़ता है? क्या ह
इसकी कल्पना भी करते हैं ? विचार कीजिये कितना वीभत्स ए
अनैतिक यह कार्य है ? हम जानते हैं कि कभी कोई संकट नज
आए तो बच्चे पहले कहाँ जाते हैं ? माँ की गोद में। बच्चे का सब
बड़ा आश्रय माता होती है। अब वही माता स्वयं अपने शिशु
लिये कत्लखाना खुलवाती है तो कौन उनकी चीख सुने ? कहते
हमें आवाज सुनाई नहीं देती। अरे जग की दूसरी बातों में रस ले
में तो आवाजें सुनाई देती है परन्तु जहाँ ऐसा भीषण प्रसंग आता
तो नींद आ जाती है। कोई जगाए तो कहती है मुझे तो नींद
रही है। कैसी अनोखी बात है ? जो जगा है पर सोने का नाट
करता है उसे कैसे जगाया जाए ?

एक तरफ तो जय सियाराम, जय सियाराम बोलते हैं, पह
सीता का नाम लेते हैं पर वह सीता उन्हें धिक्कार रही है जो ऐ
रावण को धिक्कारने में कटिबद्ध रही है। माता के रूप में सीता
महिमा क्या कम है ? जरा विचार करें कि हम जिनकी भक्ति औ
वीरता की कथाएँ सुनते-सुनाते हैं वे भक्त प्रहलाद और वीर हनुमा
कहाँ से आये ? १२ या २२ वर्ष की साधना थी उनकी। वे भी कि
माता की सन्तान थे।

माता अंजना ने यह नहीं सोचा कि यहां मेरा कोई अस्ति
नहीं है। मन में यह नहीं आने दिया कि यहां मेरा कोई मूल्यांक
नहीं है, ऐसा विचार भी मन मे नहीं आने दिया। यह भी विचार न
आने दिया कि मेरा ध्यान ही नहीं है, मै किस घर में आ पड़ी

कभी-कभी कोई कह देते हैं कि ये तो कट्टरवादी हैं। कट्टरवा
बने बिना कोई धर्म आराधना कर सकता है ?

में है, धमनियों में है तब तक तो आराम से रहेंगे। धर्म रक्त ही है, उसे शरीर में अबाध बहने दो।

यदि एक बोतल खून किसी को दे दो तो २-४ दिन तो धकड़ियां खाते रहोगे। हालाँकि सरकारी नियम से, मेरे ख्याल से तो एक बार एक व्यक्ति का २५० ग्राम से ज्यादा खून नहीं लेते होंगे फिर भी क्या हालत हो जाती है ? और आज हम अपना खून किसलिये बहा रहे हैं, जरा विचार करें। शास्त्रों में कहा गया है- धम्माणुरागरता, पेमाणुरागरता -यह कोई कपड़ा तो नहीं जो बदलकर खूंटी पर रख दें। इसी प्रकार यदि धर्म को खुंटियों पर इन्सान रखता रहेगा तो जीवन में कैसे सफल हो सकेगा ? धर्म के संबंध में ऐसी ढुलमुल नीति क्या कुछ कल्याण कर पायेगी ? ऐसे ही ढुलमुल नीति रही तो न तो स्वयं का कल्याण कर पाओगे न ही राष्ट्र या समाज का कल्याण कर पाओगे। ऐसी ही ढुलमुल नीति से राष्ट्र या समाज किसी का भी उत्थान संभव नहीं है।

मैं आपसे आध्यात्मिक कवि आनन्दघनजी तथा महासती सीता की बात कह रहा था। सीता ने कहा- ऐ दुराचारी ! धिक्कार है तुझे तथा तुझे जन्म देने वाली माता को। इधर कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं- धींग धणी माथे किया रे ....। बन्धुओं! अपने धणी पर यदि विश्वास हो गया तो दृष्टि इधर उधर नहीं जायेगी, यदि जाती है तो इसका मतलब है कि आपके विश्वास में कमी अथवा खोटाई है। स्वामीजी पर विश्वास डोलायमान है। घड़ी में जो पेण्डुलम होता है वह कभी इधर जाता है कभी उधर, वैसे ही यदि हमारी श्रद्धा डोलती रही तो क्या जीवन का निर्माण हो जायेगा ? क्या जीवन व्यवस्थित हो पायेगा ? अतः यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो ऐसे समर्थ स्वामी के चरणों में अपनी समर्पणा कर दें। "अरिहन्ते शरणं पव्वज्जामी"-इसका तात्पर्य है- मैं अरिहन्त की शरण ग्रहण करता हूँ। यदि अरिहन्त पर विश्वास है तो कोई दूसरा चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो, हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा। आज की इस व्यवस्था में भी हम इसके प्रमाण देखते हैं। मान लीजिये एक

व्यक्ति है जिसके पीछे पुलिस पड़ गयी है और वह पुलिस से कहे- ठीक है, मै अभी चीफ मिनिस्टर को फोन करता हूँ कि अमुक पुलिस वाले मुझे परेशान करते हैं। मैं उनका जंवाई हूँ। तो पुलिस क्या उसका कुछ बिगाड़ पायेगी ? नहीं। बल्कि उसकी खुशामद करती हुई आराम से उसे उसके घर पहुँचा देगी। यह बात तो एक साँसारिक पहुँच की है और यदि अरिहंत तक पहुँच हो जाये, उनका संरक्षण प्राप्त हो जाय, उनकी शरण मिल जाय तो फिर कोई क्या बिगाड़ सकेगा ? फिर वह भावना जगेगी- 'मेरा रंग दे बसन्ती चोला'। किसने कहा यह ? भगतसिंह ने। फिर किसका भय रहेगा? भक्त भी विमलनाथ भगवान से कह रहे हैं-

धींग धणीं माथे किया रे, कोण गंजे नर खेड़।

ऐसा कौन गंजा व्यक्ति है जो अपनी खोपड़ी सामने लायेगा ? बाल वाला भी नहीं लाता तो गंजी खोपड़ी वाला कैसे लायेगा ?

बात समझने की है। भाव को ग्रहण करने की है। यह आवश्यक है कि हम प्रार्थना के भीतर के भावों को पकड़ें। शब्दों को ही पकड़ कर चलते रहेंगे तो कल्याण होने वाला नहीं है। समर्थ के संरक्षण का ही परिणाम था कि लंका में हनुमान निर्भय रहा। आपने भी रामलीला में देखा होगा- हनुमान लंका का नाश कर रहा था। रावण के सम्मुख पकड़ कर लाया गया, उसे शरण का बल था और उसका लाभ भी उसे मिला। ऐसे ही यदि हम विमलनाथ भगवान को सिर पर बिठा लें तो कोई भी व्यक्ति हमें अंगुली दिखाने का साहस भी नहीं कर पायेगा।

मैं सोच रहा था- कुछ-क्या आदि के माध्यम से नमस्कार महामन्त्र का माहात्म्य बताऊँ, पर भीतर व्यथा हो रही है। आप कहेंगे कि आपके भीतर भी व्यथा ? अरे, व्यथा नहीं तो क्या ...। जब अपनी माँ के नाम पर बट्टा लगाने वाली सन्तानें हो रही हैं, निन्दनीय कार्य कर रही हैं तब व्यथा तो होगी ही।

राजीमती ने अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि से कहा- हे अपयश

के कामी ! धिक्कार है तुम्हें-

> धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
> वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।

तुम त्यागे हुए भोगों का पुनः आस्वादन करना चाहते हो। इससे तो तुम्हारा मर जाना श्रेयस्कर है। सच्ची समर्पणा के बल पर राजीमती ऐसा कह सकी तो एक ऐसे व्यक्ति के प्रति जिसका समर्पण हो जाता है वह कभी ऐसी दोगली नीति नहीं अपना सकता। यह दोगली नीति अपनाने से ही राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पा रहा है। आप कहेंगे कि आप तो इतना स्पष्ट कहते हैं। अरे, स्पष्ट नहीं कहूँ तो क्या करूँ ? मैं जिस समाज में जी रहा हूँ उस समाज की जब ऐसी हीन जैसी स्थिति बन रही है तब चुप भी कैसे रहा जा सकता है ? परिस्थिति का अनुमान आप भी कर सकते हैं। अपने सीने पर हाथ लगाकर कहिये कि यदि आपकी पत्नी किसी गलत नीयत से इधर-उधर पास-पड़ौस में झाँकने लग जाये तो क्या सहनीय स्थिति बनेगी ? विचार कीजिये कि तब मन में क्या भाव बनेंगे ? पत्नी ही क्या आपकी लड़की या लड़का जरा सा इधर-उधर देखे तो आपकी तुरन्त यही प्रतिक्रिया होगी- अरे मेरी इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी। तो जहाँ इस प्रकार की भावना आ जाये, आपके मन में ऐसे विचार आ जायें तो समझ लीजिये कि स्थितियाँ किस प्रकार की बन गई हैं। क्या ऐसी स्थितियाँ सहनीय हैं ? तब समझिये कि आज हम जिस समाज में जी रहे हैं उसकी क्या हालत हो रही है। जरा ध्यान दें और अपनी ढुलमुल नीति को छोड़कर एक समर्पणा के साथ 'चरैवेति-चरैवेति' की भावना से आगे बढ़ें तभी हमारा कल्याण भी होगा। जैसे खून कभी भी हमारी धमनियों से, हमारे शरीर से, जुदा नहीं हो सकता, वैसे ही कोई भी हमारी आत्मा को धर्म से जुदा नहीं कर सकता। धर्म की भावना इसी प्रकार आत्मा में रची-पची होती है, भले ही हमें उसका अहसास न हो। धर्म के संबंध में ऐसी ही भावना एवं ऐसा दृढ़ विश्वास अपने दिल में यदि हम जमा लेंगे तो कोई ताकत हमें दुःखी नहीं कर

पायेगी। फिर निश्चित ही सुख सम्पत्ति से हमारी भेंट होती चली जायेगी। ऐसा सुख और ऐसी सम्पत्ति ही हमें वह शांति दे सकेगी जिसकी खोज में हम कस्तूरी मृग की भाँति इधर-उधर भटकते रहते हैं परन्तु जो मिलती नहीं। यह भली प्रकार समझ लीजिये कि सुख-शांति का वास तो हमारे स्वयं के भीतर ही है (जैसे कस्तूरी मृग के शरीर में ही कस्तूरी होती है), परन्तु हम उसे वहाँ नहीं ढूँढ़ते। सांसारिक भोगों में, आवश्यकताएँ बढ़ाने में तथा पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के प्रयासों में हम शांति और सुख ढूँढते हैं। उनमें वह नहीं मिलेगा। उससे तो तृष्णा और बढ़ेगी- 'ज्यों प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'। अतः हम सभी तृष्णाओं का विसर्जन भगवान् के चरणों में कर दें और उनमें दृढ़ आस्था और विश्वास उत्पन्न कर लें। यदि ऐसा हम कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि सुख-शांति हमें प्राप्त न हो। तब न कहीं भटकना पड़ेगा और न तनावों या कुण्ठाओं का जन्म होगा। कहा भी गया है- श्रद्धावान को ज्ञान मिलता है और विश्वास का फल होता है। यदि इतना ही हम समझ लें तो परिणाम होगा -

दुःख दोहग्ग दुःख टल्या रे, सुख संपत्ति सूं भेंट।

□□

13. सुख-सम्पत्ति से भेंट का उपाय

विमलनाथ भगवान् इस अवसर्पिणी काल के १३वें तीर्थंकर हो गये हैं। उनको वन्दन करते हुए तथा उनकी प्रार्थना करते हुए कवि ने सांसारिक प्राणियों की इस भावना को ही प्रस्तुत किया है -

चरण कमल कमला बसे रे ....।

कमला अर्थात् लक्ष्मी। हर व्यक्ति को लक्ष्मी की चाह रहती है। हम समझते हैं कि लक्ष्मी की, धन की प्राप्ति हो जाने पर हम सुखी हो जायेंगे। धन के लिये ही लक्ष्मी की उपासना, लक्ष्मी की आराधना की जाती है। इसीलिये हम चाहे खाट पर भी पड़े हों और मालूम पड़े कि अमुक तरीके से अमुक जगह से धन मिलने वाला है तो शरीर में जान आ जाती है और पैरों में गति आ जाती है। परन्तु कवि का कहना है- भाई ! तू लक्ष्मी चाहता है, पर वह पूजा पाठ से, अगरबत्ती जलाने से आने वाली नहीं है। यदि पूजा-अगरबत्ती से लक्ष्मी प्राप्त होती तो शायद आज तक कोई गरीब नहीं रहता, कोई भी लक्ष्मीहीन नहीं रहता, क्योंकि सभी लक्ष्मी की दीपावली के दिन पूजा करते हैं और प्रतिदिन अगरबत्ती भी लगाते हैं।

विचार कीजिये कि गाड़ी (साइकिल या स्कूटर) पर आप बैठते हैं या गाड़ी सिर पर लेकर चलते हैं ? यदि आप ऊपर बैठकर चलें तो लगता है आप मालिक हैं, पर यदि उसे सिर पर लेकर चलें तो .... ? वैसे गाडी कभी उठाई नहीं जाती पर कभी खराब होने पर सिर पर उठाई जाय तो लोग कहेंगे- लगता है मजदूर है। वैसे ही लक्ष्मी को सिर पर उठाते चलो तो क्या मालिक बन जाओगे ? लक्ष्मी किस पर आरूढ़ रहती है ? उल्लू पर। उल्लू उसका वाहन है। वह संकेत भी करती है कि मुझे यदि सिर पर चढ़ाया तो तुम्हारी हालत उस रात के राजा की तरह बन जायेगी ? सूर्य को वह

समझता है कोई काली रेखा आ गई है। चाहे सूर्य विश्व को प्रकाशित करता हो पर उल्लू के लिए तो वह अन्धकार ही देता है। कोई कहे कि यह दोष सूर्य का है पर नहीं, दोष उल्लू की आंखों का है। वैसे ही लक्ष्मीवान की आंखें ऊपर से चाहे खुली दिखें पर भीतर की आंखें बन्द हो जाती है।

परन्तु ऐसा ही होता है क्योंकि आज की दुनियाँ पैसे को ही परमात्मा मानती है। आपकी भाषा में कह रहा हूँ, शांत क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय गणेशाचार्य भी इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए फरमाया करते थे -

पईसो म्हारो परमेश्वर, लुगाई म्हारी गुरू ।
छोरा-छोरी सालिगरामजी, सेवा यारी करूँ ।।

पैसे में ही आज व्यक्ति ने अपने परिवार को समेट लिया है। बन्धुओं! जहाँ लक्ष्मी की बात सामने आती है तो व्यक्ति तुरन्त उसके प्रति आकर्षित हो जाता है पर दूसरे ही क्षण उसके ज्ञान चक्षु बन्द हो जाते हैं। तब वह सोचता है- क्या करूँ ? ऐसे में न तो स्व-स्वरूप को वह देख पाता है, न ही परमात्मा स्वरूप को। कहा भी गया है- **अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।** अज्ञान और मोह का विवर्जन हुए बिना, वे ज्ञान चक्षु खुल नहीं सकते। ऐसे में वह न तो स्वयं का दर्शन कर पायेगा और न परमात्मा को ही देख पायेगा।

परन्तु अनादि काल से दौड़ इसी दिशा में चल रही है। न मालूम किस-किस गति में आत्मा ने चक्कर काटे हैं। नाना दुःख भोगती हुई यह आत्मा जब मानव बनी तो भी कभी देव कभी नरक और कभी तिर्यंच में चक्कर लगाती रही है। इन्हीं चार गतियों में पर्यटन की अवस्था आज तक हमारी रही है। हमने अनेक बार इन जीवायोनियों में परिभ्रमण कर लिया। देव-सुख का आनन्द भी ले लिया, तो नरक की पीड़ा भोगनी भी बाकी नहीं रही। हो सकता है अनुत्तर विमान में अभी तक नहीं गये, परन्तु बाकी चौदह राजू का एक-एक कोना हमने छान लिया और कुछ अवशेष नहीं बचा पर

ज्ञान की आँखें अभी तक खुली नहीं।

तब यह समझ लेने की बात है कि ज्ञान के प्रकटीकरण बिना चार गति का भ्रमण रूकने वाला नहीं है। चाहे अर्थ कितना ही उपार्जित कर लें। पैसे से देवगति नहीं मिल सकती है। आपको पैसे से रेलगाड़ी के टिकिट मिल सकते हैं। ज्यादा ही पहुँच है तो मिनिस्टर भी बन सकते हैं ? सूटकेस पहुँचा दो तो कहीं का भी टिकिट मिल जायगा, पर मनुष्य जन्म का टिकिट ऐसे सहज पैसे में मिलने वाला नहीं है। उसके लिए तो स्वयं कठोर साधना-आराधना करनी पड़ेगी तभी अशुभ गति में जाने से बच पाओगे।

संयम आराधना से निश्चित् १५ भव से ज्यादा नहीं करने पड़ेंगे। जघन्य आराधना भी की तो भी नरक-तिर्यंच में नहीं जाओगे, केवल देव-मनुष्य में अप-डाउन होता रहेगा। ऐसे पाठ आगमों में एक नहीं, अनेक उपलब्ध हैं। सुबाहु कुमार ने सुमुख गाथापति के रूप में जघन्य आराधना की तो १५ भव तक सीमित हो गये। देव और मनुष्य मात्र में भ्रमण रह गया। यह भ्रमण तब रूकेगा, जब अज्ञान का पर्दा हट जायेगा। कहा भी गया है -

"अगुणिस्स नत्थि मोक्खो"

जब चारित्र की पूर्ण पराकाष्ठा होगी तभी मुक्ति संभव है, अन्यथा नहीं।

कभी-कभी मेरे भाई कह देते हैं कि अभी मुक्ति संभव नहीं है। तो क्या भरत क्षेत्र में कोई महाव्रतधारी भी नहीं होंगे ? क्या यह बात सही है ? किसे पूछें ? क्या कोई शास्त्र-प्रमाण है कि एक भी महाव्रतधारी भरतक्षेत्र में नहीं है ? इस संबंध में थोड़ी गहराई में जाकर चिन्तन करने की आवश्यकता है। सामान्यतः होता ऐसा है कि जब व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, तो आचारांग सूत्र का हवाला देकर कह देता है-"५ महाव्रतधारी नहीं मिलते, १-२ जितने महाव्रतधारी मिलें, उनकी आराधना करो। पर समझने की बात यह है कि ये सभी महाव्रत एक दूसरे से जुड़े हैं। एक-दो व्रत से साधु

नहीं होते। पूर्ण पाँच महाव्रतों का अभाव नहीं होगा तथा इस पाँचवे आरे के अन्तिम समय से पूर्व तक निरन्तर पाँच महाव्रतधारी साधु उपलब्ध रहेगा। ऐसा कोई समय नहीं होता जब पाँच महाव्रतधारी न मिले। प्रभु महावीर का यह दिव्य उद्घोष है-"मेरा यह शासन निरन्तर २१ हजार वर्ष तक चलेगा" तब सोचने की बात यह है कि यदि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका नहीं होंगे तो २१ हजार वर्ष तक शासन कैसे चलेगा ? यदि यह कहा जाय कि ५ महाव्रतधारी कहाँ है, उन्हें. खोजने लगें तो हमारी पीढियाँ बीत जायेंगी। तो मैं पूछता हूँ आपसे कि ऐसा कौन सा ज्ञान आपको मिल गया है अथवा कौनसी कसौटी आपने हाथों में ले ली है जो यह प्रमाणित कर दे कि पीढियाँ बीत जाँय पर तुम्हें ५ महाव्रत- धारी नहीं मिलेंगे ? भगवान से बढकर ज्ञान हो गया क्या ? भगवान का उद्घोष है- २१ हजार वर्ष तक उनका शासन चलेगा। हो सकता है उसमें उतार-चढाव आयें पर ऐसा समय २१ हजार वर्ष में कभी नहीं आयेगा, जिसमें पाँच महाव्रतधारी नहीं मिले। उस आराधना के आधार पर देवगति का टिकिट मिल जाये परन्तु वह आराधना का अंतिम लक्ष्य नहीं है। वहाँ से पुनः संसार में जन्म-मरण करने पडते हैं। एक मात्र सिद्धि ही ऐसा स्थान है जहाँ से लौटना नहीं होता। कहा भी गया है -

यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते, तत्धामः परमं ममः

वही मेरा परमधाम है पर उस धाम को व्यक्ति सहज प्राप्त नहीं कर सकता। उस परमधाम को पाने के लिये सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकट करना होगा, तभी हम आत्मा-परमात्मा की एकरूपता को देख सकते हैं।

इस संदर्भ में एक घटना पर विचार करें। भगवान् महावीर विराजे हैं और गौतम से कह रहे हैं -"जह जिणे अज्ज दिस्सई - हे गौतम ! तुम्हें जिन दिखाई नहीं दे रहे हैं। जिन कौन है ? जो वीतरागी, केवलज्ञान-केवल दर्शन प्राप्त कर चुके हैं, तथा जिन्होंने मोह-अज्ञान पर विजय प्राप्त कर ली है, वे जिन कहलाते हैं। पर प्रभु कह रहे हैं- गौतम ! तू आज जिन को नहीं देख रहा है। क्या

यह बात ठीक है ? भगवान जिन साक्षात् विराजमान हैं फिर भी कह रहे हैं- तुम जिन को नहीं देख रहे हो तो उनके कथन का आशय समझो। उनके कथन का आशय है- शरीर को देख रहे हो, ज्ञान का अनुभव नहीं कर रहे हो।

विचार कीजिये आज आप और हम एक दूसरे में क्या देख रहे हैं ? किस रूप में पहचान रहे हैं ? आप बोल रहे हैं, सुन रहे हैं, सूंघ रहे हैं, चल रहे हैं. फिर रहे हैं, नींद की झपकी भी ले रहे हैं, नहीं ले रहे हैं ? यही सब करते शरीर देख रहे हैं। तो मैं एक बात बता रहा हूँ कि आप इन सब अनुभवों के आधार पर सोच रहे हैं उनसे परिचय कर रहे हैं अथवा उन्हें पहचान रहे हैं परन्तु उनमें जो जीव हैं उसे कहाँ देख रहे हैं ? यदि जीव न हो तो हलन-चलन भी नहीं होगी। आवाज लगाओगे तो बोलेगा नहीं। तब नाड़ी का संचालन भी नहीं होगा तथा स्ट्रेटस्कोप में धडकन भी नहीं आयेगी। तब आप मानोगे कि जीव चला गया। केवल यह शरीर रहा है। ऐसे को मृत मान लेते हैं। यह विचार कीजिये कि कौन मरा ? किसकी बदौलत इस शरीर में रौनक थी ? किसके जाने के बाद शरीर की रौनक समाप्त हुई ? जीव को तो कोई फर्क नहीं पड़ा उसने तो अपना स्थान बना लिया। राजा परदेशी भी पहले आत्मा को नहीं जान रहा था। जब ज्ञान हुआ तो जानने लगा। वैसे ही महावीर कहते हैं- जिन के शुद्ध स्वरूप को नहीं केवल शरीर को देख रहे हो। उस माध्यम से ही अनुभव कर रहे हो। सर्वांगीण ज्ञान के प्रकटीकरण बिना जिन को नहीं देख पाओगे। कवि आनन्दघनजी के सामने भी शायद ऐसा प्रसंग घटित हुआ होगा जैसा पहले कभी न हुआ हो। यानि जिनेश्वर देव से तादात्म्य सम्बन्ध जुड़ा तभी उन्होंने यह भावना व्यक्त की- तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ

ऐसा अनुभव होने पर कवि अपने मुख से उच्चारण करने लगे- विमल जिन दीठा लोयण आज, हे विमल जिन, आज मैंने आपके दर्शन किये, मेरे सारे कार्य सिद्ध हो गये दुःख दोहग्ग दुरा

टल्या रे, सुख सम्पत्ति सुं भेंट मेरा सारा दुःख और दारिद्र दूर हो गया, तथा सुख सम्पत्ति का लाभ हुआ। ऐसे चरण कमलों में कमला बसती है- चरण कमल कमला बसे रे ! कमला किसे कहा है ? सम्पत्ति को। सम्पत्ति है तभी तो गाड़ी, सुन्दर बंगला मिलता है। पर जब सम्पत्ति आ जाती है तब किनके चरणों में झुकते हो? सन्तों के चरणों में। उनके पास कितना पैसा है ? कुछ नहीं। और हो तो ? उनके पास कौन जायेगा?

गुरूदेव फरमाया करते हैं - सन्तों के पास कौड़ी है तो वे कौड़ी के हैं- और गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं है तो वे कौड़ी के हैं। यानि उनकी कीमत नहीं है। गृहस्थ परिवार समाज में रहता है अतः उसे पैसों की आवश्यकता होती है। पर सन्तों को क्या आवश्यकता है पैसों की ? गृहस्थ अपने घर में बना श्रेष्ठ भोजन संतों को बहराने की भावना रखते हैं। अच्छा वस्त्र महाराज को बहराने की भावना रखते हैं। सन्त आ जाएँ तो आप चाहे एक कमरे से गुजर कर लेंगे पर सन्तों से कहेंगे कम से कम एक दिन मेरे घर विराज जाइये। अब बताओ सन्तों के पास लक्ष्मी नहीं है पर लक्ष्मी का झुकाव किधर है ?

चरण कमल कमला बसे रे लींनो गुण मकरन्द

त्याग रूपी चरणों में ही लक्ष्मी निवास करती है। निर्मल पंकज सेव....। परन्तु यदि लक्ष्मी को पकड़ा और उस प्रयास में जिनेश्वर के चरण छूट गये तो .... ? ध्यान रखना ऐसे लक्ष्मी मिलने वाली नहीं है। और यदि जिनेश्वर देव के चरण पकड़े तो लक्ष्मी इर्द-गिर्द चक्कर लगाती रहेगी क्योंकि वह वहीं तो बसती है। लक्ष्मीपति की आराधना करना व्यक्ति नहीं चाहता तभी कवि चिन्तन कर रहा है- अब तक तो भटकता रहा पर अब मेरी लक्ष्मीपति से मुलाकात हो गई। तभी तो कहा है- विमल जिन दीठा लोयण .....।

कौन सी आंखों से देखा ? ज्ञान की आंखों से..। तूं सो प्रभु, प्रभु सो तूं है द्वैत कल्पना मेटो। ये भेद समझ लें। भेद से सारी दुनियाँ है, और भेद का कारण जाने बिना हम इन दीवारों को ढहा

नहीं पायेंगे। भेद को जाने बिना अभेद अवस्था भी नहीं बन पायेगी। अतः कारणों को मिटाना होगा तभी भेद मिटेगा।

जब हम रामायण के घटनाक्रम पर विचार करते हैं तब रावण को युद्ध का अपराधी मान लेते हैं और सीता-हरण को ही युद्ध का कारण। पर बात इतनी ही नहीं है। जरा गहराई में पहुँचेंगे तो कारण मिलेगा शूर्पणखा। उसी के कारण संघर्ष की स्थिति बनी। आप कहेंगे कि शूर्पणखा युद्ध का कारण कैसे ? इस स्थिति को समझें। शूर्पणखा लक्ष्मण के पास जाती है तो वे उसे राम के पास भेजते हैं। राम कहते हैं मेरे तो पहले ही सीता है। मेरा छोटा भाई कुंवारा है। तब वह पुनः लक्ष्मण के पास इस विचार से जाती है कि ऐसे रूपवान की मैं प्रेयसी बनूं। वे कहते हैं- आप मन से पहले श्री राम का वरण कर चुकी हैं अतः मेरी भाभी हो गई और बड़ी भाभी माता के समान वन्दनीय होती है। पुनः वह राम के पास जाती है। पर जब बात बनती नहीं देखती तब पहले तो पछताती है फिर क्रुद्ध होकर सीता पर झपटती है। सोचती है- सीता का काम तमाम कर दूं। बीच में लक्ष्मण आ जाते हैं और उसकी नाक काट देते हैं। वह खर-दूषण को बीच में लाती है जब वे भी काम आ जाते हैं तब वह रावण का सहारा लेती है। रावण के अहं को वह जगा देती है। हम जानते हैं अहं आ जाता है तो अज्ञान की ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है। इस स्थिति में व्यक्ति कोई भी अकृत्य करने को तत्पर हो जाता है। प्रभु महावीर ने कहा है- णाणस्स सव्वस्स पगासणाए -ज्ञान ही सर्व प्रकाश करने वाला है तथा अज्ञान और मोह का विसर्जन करने वाला है। यदि ज्ञान चक्षु उद्घाटित न हों तो चाहे भगवान भी सामने आ जाये तो हम उसे नहीं पहचान पायेंगे। यदि रावण सीता को माँ-बहन के सम्मान से लाता तो लक्ष्मी उसके सामने आ जाती। पर जो राम को ठुकराना चाहे और सीता (लक्ष्मी) को लाना चाहे तो ऐसे के सामने क्या कभी आ सकती थी लक्ष्मी ? नहीं, कभी नहीं। रावण यदि सीता को घर लाना चाहता था तो राम को घर लाता, मेहमानदारी करता तो शायद सीता अपने आप राम के कारण उसके घर आ जाती।

तब रावण युद्ध का कारण नहीं था। युद्ध का कारण थी शूर्पणखा। जब उसने देखा कि ऐसे तो राम घर में आने वाला नहीं है तो उसने रावण में दर्द जगा दिया और उस कारण ही युद्ध-लीला शुरू हुई।

एक दुकानदार पुराने जमाने में गुलामों का क्रय-विक्रय करता था। भगवान महावीर के समय में भी चन्दना, राजा हरीश्चन्द्र, तारामती, क्या ये नहीं बिके ? उस समय बिकने का तरीका यह था घास सिर पर रखकर गुलाम बाजार में खड़ा हो जाता था। फिर उसकी बोली लगती थी। जो उसे खरीदना चाहता था, वह खरीद सकता था।

वह दुकानदार भी अपने गुलामों को धड़ल्ले से बेच रहा था। लोगों ने पूछा- भाई, क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया- जल्दी काम निपटा कर जाना चाहता हूँ। उसने शीघ्र ही सबको बेच भी दिया। एक कुबड़ी दासी को नहीं बेचा और उसे साथ ले जाने लगा। इस पर लोगों ने पूछा- सभी सुन्दर-सुन्दर गुणवान दिखने वाले लोगों को तो तुमने बेच दिया, परन्तु इस काली-कलूटी कुबड़ी औरत को पुनः ले जा रहे हो, ऐसा क्यों ? यदि किसी को रखना ही था तो उन्हीं में से किसी को रख लेते।

व्यापारी ने बताया- ये गोटियाँ बनाने में बड़ी चतुर है। यह इसका विशेष गुण है, इसका नाम है- महत्वकांक्षा। यह रहेगी तो अनेक गुलाम फिर पैदा कर सकता हूँ, इसके बिना नहीं। इसलिये मैं इसे नहीं बेचता।

व्यापारी ने तो सहज ही कहा था पर यह सत्य है कि जहाँ निषेध होता है और वहाँ उसकी गुणवत्ता ध्यान में आ जाये तो आकर्षण पैदा हो जाता है। निषेध में स्वयं आकर्षण होता है। महत्वाकांक्षा नामक यह दासी रहेगी तो झूठ, फरेब, काम, क्रोध आदि सारे गुलाम खिंचे हुए मेरे पास आ जायेंगे। व्यापारी का नाम मान लीजिये शैतानसिंह था क्योंकि वह शैतान ही था। शैतानसिंह की बात सुनकर सारे दर्शक आश्चर्य करने लगे- ये काली कलूटी और

इतनी होंशियार ! इस कथा में निहित अर्थ को हम समझें। महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु व्यक्ति कृत्य-अकृत्य कुछ भी करने के लिये तैयार हो जाता है और एक प्रकार से महत्वाकांक्षा का गुलाम बन जाता है।

आज आम आदमी के जीवन में और समाज में जो द्वन्द्व चल रहा है उसके पीछे कारण है- महत्वाकांक्षा। वह जब जागती है तो सारे अनर्थ पैदा हो जाते हैं। शूर्पणखा है महत्वाकांक्षा, रावण है व्यक्ति का अहंकार, तथा खर-दूषण हैं काम-क्रोध। जब ये आ जाते हैं तब हमारी आत्मा विमलनाथ भगवान के दर्शन नहीं कर पाती। अज्ञान का पर्दा जहां बीच में आ जाता है वहाँ सब-कुछ सम्मुख होते हुए भी हम नहीं देख पाते और यदि कहीं बीच में महत्वाकांक्षा आ जाय तो अन्य सारे दुर्गुण भी आ जायेंगे।

यह भी कहा जाता है कि महत्वाकांक्षा के बिना विकास नहीं हो सकता। यह किसी अपेक्षा से ठीक भी हो सकता है, पर जहाँ महत्वाकांक्षा तथा इसके साथ प्रतिशोध की आग पैदा हो जाती है वहाँ इसकी लपेट में व्यक्ति आगे नहीं देख पाता। सोचता है- मेरी सारी प्रतिष्ठा दांव पर लग जायेगी। फिर वह जो नहीं करना है वह भी करने लग जाता है। ऊपर से मानता है कि जो हो रहा है अच्छा हो रहा है। यह विपरीत-दृष्टि-भावना जब बन जाती है तब समझ लीजिये शूर्पणखा पैदा हो जाती है। वह चाहती है कि (सुबुद्धि) सीता न रहे, सिर्फ मैं रहूँ। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिये कितने-कितने सैनिक उसने तैयार किये हैं ? खर-दूषण को उसी ने तैयार किया था। वैसे यह महत्वाकांक्षा जब जागती है तो काम-क्रोध के खर-दूषण के साथ अन्य अनेक प्रकार के दुर्गुणों की सेना भी अपने साथ तैयार कर लेती है। तब क्या स्थिति अन्त में बनती है यह स्वतः ही समझ में आ जाता है। महत्वाकांक्षी व्यक्ति का अहं कई बार इस सीमा तक जागृत हो जाता है कि वह दूसरों की हानि का कारण बन जाता है, परन्तु वह उसके स्वयं के लिये भी घातक हो सकता है। जैसे सर्प दूसरों को डसकर मारना चाहता है पर वही सर्प यदि साही पर अपने फण का प्रहार करता है तो

साही का तो कुछ नहीं बिगाड़ पाता किन्तु अपनी स्वयं की हानि कर लेता है। उसके कांटे चुभते रहते हैं और फण फेंकते-फेंकते लहुलुहान हो वह प्राणविहीन हो जाता है। वह अपनी अक्षमता को पहचान नहीं पाता और अपने अहं के फण पछाड़ने में लगा रहता है। इस प्रकार वह दूसरों का भले ही कुछ न बिगाड़े पर अपना ही नुकसान करने की स्थिति में पहुँचता है। इसी प्रकार जो वीतराग मुद्रा का दर्शन नहीं कर पाता वह विमलनाथ भगवान की सुन्दर छवि को भी देख नहीं पाता और उस कारण उनसे संबंध जोड़ नहीं पाता। पर कवि आनन्दघनजी ने इस बात को जान लिया और उनका तादात्म्य संबंध प्रभु से जुड़ गया। इसीलिये कहा है- चरण कमल कमला बसे रे, तब उसे ध्यान आता है कि अरे ! यहाँ इतनी लक्ष्मी बिखरी पड़ी है और इतने दिन मैं इसे देख नहीं पाया ? जब इस प्रकार के तादात्म्य के क्षण आते हैं तब भेद रेखा मिट जाती है और व्यक्ति अभेद का आनन्द लेने लग जाता है। उसे शान्त प्रशान्त अमरता का अनुभव होने लगता है। परन्तु तादात्म्य की ऐसी स्थिति हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता। कई व्यक्ति ध्यान करते हैं फिर भी भेद रेखा नहीं जान पाते हैं। सन्तोष-शान्ति बाहर से नहीं मिलती है, वह भीतर ही निवास करती है। जब आप भीतर पहुँचेंगे तभी इन सारी अवस्थाओं का अनुभव होगा और तभी सुख शांति का आनन्द भी आयेगा। इसलिये महत्वाकांक्षा के स्वरूप और प्रकृति को समझें अहं से उसे पुष्ट न होने दें। क्योंकि ये शूर्पणखा यदि भीतर बैठी रहेगी तो कभी शांति नहीं मिल पायेगी। शूर्पणखा के कारण ही खर-दूषण, रावण और उनके सहयोगियों का विनाश हुआ। सोने की लंका जल गई और पुत्र-पौत्रों से भरे-पूरे परिवार में कोई दिया जलाने वाला नहीं बचा। महत्वाकांक्षा की शूर्पणखा यदि न होती तो रावण का यह हश्र न होता। फिर भी आज लोगों ने महत्वाकांक्षा रूपी शूर्पणखा को भीतर पाल रखा है और धन-धान्य, ऐश्वर्य-विलास की सामग्री एकत्र करने में जुटे हुए हैं। यह बात समझ ली जानी चाहिये कि भोगों का कहीं अंत नहीं है। एक आकांक्षा की पूर्ति दूसरी आकांक्षा को जन्म देती है और दूसरी,

तीसरी आकांक्षा को। यह क्रम जब आरंभ हो जाता है तब व्यक्ति लाचार हो जाता है, उसका विवेक नष्ट हो जाता है और वह कोई भी कृत्य-अकृत्य करने में संकोच नहीं करता। इसीलिये सादे जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन नीति कवि ने ठीक ही कहा है -

गोधन, गजधन बाजिधन और रतन धन खान ।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान ।।

इसीलिये संतोषी को परमसुखी माना जाता है क्योंकि महत्वाकांक्षा ऐसी क्षुधा को जाग्रत कर देती है जिसकी तृप्ति संभव नहीं रहती। वैज्ञानिक खोजों और उपभोक्तावादी दर्शन ने तृष्णा की अग्नि को भीषण रूप से उद्दीप्त कर दिया है। इसके दुःखद परिणाम हम तब तक भोगते रहेंगे जब-तक महत्वाकांक्षाओं की शूर्पणखा को अपने हृदय से निष्कासित नहीं कर देते। तभी वह स्थिति बनेगी जिसमें विमलनाथ भगवान् के दर्शन संभव होंगे और नाना जीव-योनियों में भटकाव से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। तब दुःख-दारिद्र्य टलेंगे और सुख-सम्पत्ति से भेंट होगी। हम सभी इस दिशा में चिन्तन करने के लिये प्रेरित हों, यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

□□

14. लक्ष्य-संधान

जय जय जय जय भगवान् !

तुझमें मुझमें भेद न पाऊँ, ऐसा हो संधान ।

सिद्ध भगवान की स्तुति भव्य आत्माओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि सिद्ध स्वरूप ही आत्मा का, मूल आत्मा का, शुद्ध स्वरूप है। वही रूप जब उसी के सामने उजागर होता है और जब वह उससे अपनी तुलना करता है तब उसे बोध हो जाता है कि वस्तुतः मेरा स्वरूप इस कर्म और काया से नहीं है, मोह और माया की वीथियों में नहीं है। राग-द्वेष के गली-कूचों में भी नहीं है। मेरा स्वभाव निरंजन-निराकार है।

पर आज ही तो यह स्तुति नहीं की। प्रतिदिन ऐसा प्रसंग बनता है। अनेक भाई भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हैं। प्रार्थना में तीर्थंकर देवों, सिद्ध भगवान् आदि की स्तुति का प्रसंग बनता है। फिर क्या कारण है कि हम कसौटी पर खरे उतर नहीं पाये ? साबुन रगड़ते चले गये, रगड़ते चले गये, फिर भी कपड़ा साफ नहीं हुआ ?

यह भी विचार आयेगा कि पूरा टब पानी खत्म हो गया पर मैल नहीं निकला जबकि विज्ञापन में पढ़ा था और सुना भी था कि एक बार में मैल साफ हो जायेगा, पर अभी तक क्यों नहीं हुआ ? जबकि साबुन और पाउडर पर इतना पैसा खर्च किया था। तब स्थिति पर विचार करें कि क्या कारण है कि मन का मैल साफ नहीं हो पा रहा है। क्योंकि प्रार्थनाएँ रटते रहने से या साबुन रगड़ते रहने से तो मन या कपड़े की सफाई नहीं हो रही है।

यदि एक बालक-आपकी ही सन्तान मान लीजिए, एक, दो, तीन वर्ष तक एक ही कक्षा में पढता रहे, उत्तीर्ण न हो तो क्या

उसका कारण आप तलाश नहीं करोगे, क्यों वह उत्तीर्ण नहीं होता इसकी खोज तो चालू करोगे ही ?

इसी प्रकार शक्कर की कीमत चुकाकर जो पदार्थ घर में लाये उसे चाय में या शरबत में डाला, पर मिठास नहीं आई तो क्या दुकानदार के पास नहीं जाओगे–कि यह क्या दे दिया ? बोरे में यदि अवशेष पदार्थ है तो हाथ में लेकर चखोगे भी और यदि बोरी के पदार्थ में स्वाद आ गया तो उसी से सन्तोष मानोगे या कुछ कहोगे भी?

तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ ऐसा दो वरदान

"तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ" के भाव को समझकर खोज करो कि क्या कारण है कि हमारा परमात्म स्वरूप उजागर नहीं हो रहा है? जब बाहर की खोज बहुत कर ली पर अन्तर को नहीं खोजा तब फिर भले प्रार्थना भक्ति करते चले जाएँ तो क्या उनसे हमारे मन के कपड़े पर आया मैल धुल जायेगा ?

पहले मैंने कही- साबुन रगड़ने की बात, अब कह रहा हूँ अलमारी में कपड़े के साथ साबुन रख दिया या रात भर साबुन को मलिन कपड़े में लपेट कर रख दिया तो कपड़ा साफ हो जायेगा क्या? मान लीजिये बहिन या घर में काम करने वाले नौकर ऐसा करें और कपड़ा साफ न हो तो क्या विचार नहीं आयेगा कि अरे! सारी रात कपड़े में साबुन लपेट कर रखा फिर भी कपड़ा साफ नहीं हुआ ? वह भी आश्चर्य करेगा। और ऐसी बात यदि आपसे वह कहता है तो आप क्या उससे नहीं कहेंगे कि तू भी बुद्धिमान निकला, कपड़े में साबुन लपेटने मात्र से क्या वह साफ हो जायेगा?

हमारे साथ भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। हम भी सिद्ध की स्तुति करते चले आ रहे हैं, धर्म की साधना-आराधना करते चले जा रहे हैं, किन्तु हमारी आत्मा साफ नहीं हो रही है। क्यों, इस पर कभी चिन्तन किया ? जैसे साबुन लपेट कर रखा कपड़ा या साबुन पास में रखा तो कपड़ा साफ नहीं होगा वैसे ही धर्म को लपेट कर

रख लिया तो भीतरी शुद्धि नहीं होगी। कहा गया है- धम्मो सुद्धस्स चिट्‌ठई -जहाँ शुद्ध अवस्था होती है वहीं धर्म टिकता है। गंदगी के स्थान पर अथवा जहाँ अशुचि हो वहाँ भक्तामर करने बैठो तो मन मानेगा क्या ? जब गन्दगी में भक्तामर का उच्चारण करना भी नहीं चाहते हो, तब वहाँ धर्म का निवास कैसे हो सकता है ? इसलिए पहले हृदय की शुद्धि करो। जहाँ वक्रता है, टेढापन है, वहाँ धर्म की साधना, आराधना न भूतो न भविष्यति। जब तक शुद्धि न हो, धर्म टिक नहीं पायेगा।

आप झुर्रियाँ छिपाने के लिये मेकअप करते हैं, चेहरे पर स्नो पाउडर खूब मलते हैं, उससे थोड़ी देर के लिए भले चेहरा सुन्दर दिखने लगे पर क्या वास्तव में सुन्दरता आ जाती है ? आजकल ऐसे पदार्थ खूब चले हैं जिनसे सफेद बाल काले हो जाय। पर क्या उससे शरीर में जवानी आ जाएगी ? इस प्रकार रूप संवार कर क्या दिखाना चाहते हैं हम दुनिया को? कितनी देर टिकेगी यह कृत्रिमता? पाउडर का स्थाई प्रभाव नहीं होता। ऊपरी श्रृंगार अधिक देर नहीं टिकता।

इसमें पानी भरा है यह दिखलाने के लिये एक घड़ा थोड़ी देर पानी में डूबो दिया जाय तो उसका गीलापन कब तक रहेगा ? तभी तक जब तक धूप या हवा न लगे। किन्तु यदि वह घड़ा भरा हो तो क्या आवश्यकता है उसे नदी में ले जाने की ? वह रिसने से या टपकने से अपने आप बता देगा कि मैं भरा हूँ।

एक किसान सोचता है- पड़ोसी की तरह मैं भी बराबर खेती करता हूँ। हल बैल चलाना आदि सारी क्रियाएँ करता हूँ तो पड़ोसी का खेत तो अंकुरित हो गया पर मैने भी हल जोता था, खाद-पानी दिया था, सब किया था फिर मेरा खेत खाली क्यों ? पड़ोसी को उसने अपना हाल बताया। पड़ोसी ने पूछा- भाई ! तुमने सब कुछ मेरे जैसा किया पर इसमें बीज डाले थे या नहीं ? वह कहता है- बीज तो मैंने नहीं डाले। इस पर पड़ोसी किसान बताता है, तब तुम्हारा खेत अंकुरित कैसे होगा ?

बन्धुओं अब मैं आप से पूछ लूं-इतने दिनों आपने सिद्ध-स्तुति की पर हरापन क्यों नहीं आया ? तब समझ लीजिये कि कठपुतली के खेल के समान कुछ क्षण किसी को राजा-प्रजा बना दिया तो क्या हो जायेगा कल्याण ? बच्चों को समझाने के लिए वह खेल है पर उसी खेल के समान सामायिक आदि के उपकरण धारण कर लिये तो क्या वह कठपुतली का खेल नहीं हो जायेगा ? आपके लिए क्या, अपने लिये भी कहता हूँ कि विचार करें कि यह वेश पहनकर हम कोई ड्रामा तो नहीं कर रहे हैं ? कठपुतली का खेल तो नहीं कर रहे हैं ? समभावों का प्रवेश हमारे भीतर हुआ या नहीं ?

पूज्य गुरुदेव एक दृष्टांत दिया करते हैं- एक मोतीलाल सेठ थे, जिनके दो पत्नियाँ थी। बड़ी जी प्रतिदिन एक सौ आठ मणियों में मोतीलाल सेठ-मोतीलाल सेठ मणिये घुडकती थीं। एक बार मोतीलाल सेठ गांवडे गये। पुनः लौटे १२ बजे। जेठ की भरी दुपहरी में। दरवाजे के पास बड़ी जी माला फेर रहीं थीं। थके-पचे मोतीलाल सेठ दस्तक दे रहे थे दरवाजे पर। आवाज सुन कर बड़ी जी बोली- ठहरो, पहले मैं आपके नाम की माला पूरी कर लूं, फिर दरवाजा खोलूंगी। विचार कीजिये कि क्या वह सेठजी की कृपा पात्र बन सकती थी ? इधर लोडी जी घर में काम कर रही थीं, हाथ का काम छोडकर आई, दरवाजा खोला, हाथ से सामान लिया, कुछ देर बाद ठंडे जल की झारी भर लाई और सेठ जी की सेवा सुश्रूषा में जुट गई। उसे सुबह से शाम तक काम से फुरसत नहीं थी अतः एक माला भी नहीं फेर सकती थी, पर सेठजी की सेवा में सदा हाजिर रहती थी। सोचिये कि मोतीलालजी किस पर राजी होंगे ? सेवा करने वाले के प्रति राग-भाव और सेवा न करने वाले के प्रति संवेदना भी उत्पन्न न हो ऐसा हो सकता है। कुछ ऐसी ही स्थिति हमारी भी है। हम भी नाम स्मरण करते चले जाते हैं पर अरिहन्त तत्व का सार क्या है यह समझने का प्रयास नहीं करते। इस पर चिन्तन नहीं करेंगे तो जीवन व्यर्थ चला जायेगा। अब तो बहुत गई, थोड़ी रही है, उसमें भी सुध-बुध ले ली, सावधान हो गये,

सजग हो गये तो जीवन सुधर जायेगा, अन्यथा ये भव करते ही रह जायेंगे।

कपड़े में साबुन रखने के समान नाम लिया, पर नाम का रसायन भीतर नहीं पहुँचा तो जो हम कहते हैं- एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, तो क्या हमारे पापों का नाश हो जायेगा ? नहीं, उच्चारण मात्र से पापों का नाश नहीं होगा, उसे तो शरीर रूपी कपड़े में रगड़ना, रमाना होगा। किन्तु हो रहा है विपरीत, हम तो उन्हीं राग-द्वेष की ग्रन्थियों में उलझते चले जा रहे हैं, जिनसे मुक्त होना आवश्यक है। ईर्ष्या और डाह से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। समझ लेने की बात यह है कि आप किस मानसिकता में जी रहे हैं और क्या कर रहे हैं, इसकी कसौटी तो आपके ही पास है। दूसरा कस कर निर्णय नहीं कर सकता कि आपकी भावना क्या रही है। यह निर्णय तो आपको ही अपने हृदय की कसौटी पर कस कर करना होगा। हम जानते हैं कि थर्मामीटर जिसके लगाया जायेगा उसी का ताप मालूम होगा और वह तो फिर भी दूसरे अनुभव कर सकते हैं किन्तु भावना की बात तो यह मन का थर्मामीटर ही जान पायेगा, इसका अनुमान कोई अन्य कर भी नहीं पायंगा।

शास्त्र वचन है-'सव्वेसिं जीवियं पियं', सभी को जीवन प्रिय है। यदि राग, द्वेष, कुटिल व्यवहार लेकर चलने वाले को भी अच्छा मान कर चलेंगे तो ऐसी मानसिकता का कभी भी अच्छा प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। इसके परिणाम तो स्वयं के लिये भी अहितकर होंगे।

बन्धुओं! क्या कहूं इस नाम को ? रसायन को मुंह में रखकर चल रहे हैं, साबुन लपेटने के समान। रूटिन से सामायिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आदि यदि दिनचर्या की तरह करते चले जा रहे हैं तो भीतरी गन्दगी साफ होने वाली नहीं है। जैसे रूई लपेटी आग ज्यादा देर शान्त रहने वाली नहीं होती, जैसे हवा-आंधी चलती है वह प्रज्वलित हो जाती है, वैसा ही विषय वासनाओं के

साथ भी होता है। कुछ देर अग्नि पर राख डाल दें पर इससे वह शांत नहीं होगी ? यही स्थिति भावना की है। उसका परिणाम तो मिलता ही है।

युगदृष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहर फरमाया करते थे-एक बहिन पड़ोसी के घर जाती है। किसी विशिष्ट नाम के सम्बोधन से नाराज हो जाती है- इस नाम से मुझे सम्बोधित क्यों किया जाता है ? उस बहन के पति का नाम था ठनठनपाल। अतः इस सम्बोधन से वह नाराज हो जाती थी। हालांकि सामायिक क्रिया करती थी पर भीतर समभाव नहीं आया था। ये भाव आया था कि ये लोग मुझे ऐसा क्यों कहते हैं ? घर आई, पति से कहा 'नाम बदलिये'। पति ने कहा- क्या फर्क पड़ता है नाम से ? तुम्हें किस बात की कमी पड़ रही है ? वह कहती है- 'कुछ भी हो, मुझे यह नाम अच्छा नहीं लग रहा है, बदलिये।' पति-कैसे बदल लूं सारी फर्में इसी नाम से चल रही हैं। दोनों में काफी विवाद हो गया। पत्नी ने क्रोध में कह दिया- नहीं बदलते नाम तो मैं आपके साथ नहीं रहती। पति को बुरा लगा, उसने भी पलट कर कहा- मत रह ! यह तो कोई कारण नहीं है। बिना कारण तुनक-मिजाजी घर छोड़ने का कारण नहीं है। आज कहती है नाम बदलो नहीं तो घर छोड़ दूंगी। कभी कहेगी दुकान बदलो, फर्म बदलो ! ऐसी तुनक-मिजाजी का कोई कारण नहीं होता।

श्रीमती ठनठनपालजी के समान यदि जीवन में समभाव के रसपान का प्रवेश नहीं हो तो यही दशा होती है। ठनठनपालजी के बहुत समझाने, खूब मनाने पर भी वह नहीं मानी और घर छोड़कर जाने लगी। जाते-जाते विचार किया- क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। पीहर याद आया। घर में न चले, तो औरत की दौड़ कहाँ तक होती है? पीहर तक और आपकी दौड़ ? स्थानक तक। मियां की दौड़ मस्जिद तक।

मन में कथा रच ही रही थी पीहर वालों से कहने के लिए।

क्योंकि नाम तो कोई कारण नहीं होता-तुनक मिजाजी का। कथा गढ़ती चल रही थी, राह में मुर्दा ले जाया जाता मिला। राम नाम सत है... सभी रूटिन से बोल रहे थे। वस्तुतः इस तथ्य पर ही यदि चिन्तन बन जाये तो भी आँखें खुल सकती हैं क्योंकि इसी में सारभूत बात रही है। आप किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर मत समझना। कभी-कभी व्यक्ति के नाम से पकड़ लेते हैं कि- महाराज का नाम राम है, तो यह अपनी बात कह रहे हैं पर-'रमन्ते योगिनां यस्मिन् इति रामः' जिसमे योगी लोग रमण करते हैं, वह राम है। योगी किसमें रमण करते हैं ? आत्मा में। आत्मा का नाम राम है, वही सत् है और उसी सत् से मुगत है। पर केवल मुँह से बोलते चले जाते हैं वे तत्व नहीं समझते। यही हो रहा था- लोग राम नाम लेते चले जा रहे थे और पीछे परिजन मृतक का नाम लेकर रो रहे थे। अमर भी मरता है क्या ? पीहर का मार्ग भूली। दूसरे राहगीर को देखा- उसका नाम था धनपाल ...। घन की रक्षा सुरक्षा करे, पर इसके पास मात्र फटी लंगोटी, हाथ में लकड़ी, ढ़ोर चरा रहा है! और आगे चली तो देखी कण्डे बीनती बहिन- लक्ष्मीबाई। चिन्तन बना- क्या बात है ? अमर भी मर रहा है, धनपाल ढोर चरा रहा है, लक्ष्मी छाने बीन रही है ...? यह संसार की क्या स्थिति है ? उसके मन में सहज कविता के ये बोल उठे -

अमर मरता मैंने देख्या, ढोर चरावे धनपाल।
छाणा बींणती लक्ष्मीदेवीं, धन-धन ठनठनपाल ।।
म्हारा मदन गोपाल - 2 ।।

वंगला में एक कहावत है-'ठेकला बुद्धि काज दे' -केवल ग्रन्थ पढ़ लेने से बुद्धि की वृद्धि नहीं होती, ठोकर लगने पर होती है। वह सोचने लगी- नाम ही तो ठनठनपाल है, बाकी तो सबकुछ ठीक है। सद्‌बुद्धि आ गई और वह भी पुनः घर लौट आई।

वन्धुओं ! जब तक व्यक्ति उस अनुभूति से न गुजरे और किसी के कहने पर तुनकमिजाजी वन जाये तो उसका हित नहीं हो सकता। किसी ने पत्थर फेंका और तुनक गये, तो समझ लीजिये वह

रसायन भीतर में पैदा नहीं हुआ। अभी तक तो ऐसी ही स्थिति है जैसे कपड़े में साबुन लपेटना या धर्म के बीज नहीं बो कर केवल जमीन पोली करना। इस स्थिति में न तो कपड़ा साफ होगा न ही खेत में अंकुर आ पायेंगे। तो बन्धुओं ! सिद्ध-स्तुति करते हुए कहा गया है- तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ।

तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ, एक यही संधान-मार्ग यदि हम अपना लें और इसी पर निरन्तर आगे बढते चले जायें तो हमारा सहज ही उद्धार हो जाये।

कोई भी वैज्ञानिक अपनी माता की कुक्षी से वैज्ञानिक पैदा नहीं हुआ है। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक भी हुए हैं जो एक-एक क्लास में २-३ बार फेल हो गये। मास्टर ने माँ को हिदायत भी दे दी- तुम्हारा बेटा पढ़ नहीं पायेगा ....। माँ की आँखों के दो आँसुओं ने जिसके जीवन को इतना परिवर्तित किया, ये बल्ब उसी वैज्ञानिक की प्रथम देन है। ऐसे वैज्ञानिकों का पूर्व इतिहास पढ़ो तो पता चले कि कैसे-कैसे उनके जीवन में परिवर्तन आये। पर कहते हैं- जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ। समुद्र को रत्नाकर कहते हैं क्योंकि उस में रत्न मिलते हैं। पर कोई व्यक्ति रत्नाकर के ऊपर-ऊपर ही तैरता रहे तो मछलियाँ ही हाथ में आ सकती हैं, रत्न नहीं। वे तो गहराई में पहुँचने पर ही हाथ आयेंगे। तो हम भी इस स्तुति की गहराई में उतरें -

तुझ में मुझ में भेद न पाऊँ ऐसा हो सन्धान ।

हम में यह सिद्ध भगवान समाया हुआ है। उसकी स्तुति में कहा है- कर्म नहीं काया नहीं, मोह और माया नहीं और हम हैं कि कर्म-काया तथा मोह-माया में रचे-पचे हैं। यही सिद्ध भगवान और हम में अंतर है। अंतर का कारण है राग-द्वेष। इनके ही कारण ईर्ष्या और अहं पैदा होते हैं। उन्हीं से हम जन्म-मरण की श्रृंखला बढाते चल रहे हैं।

जैन कुल में जन्म लेने मात्र से निर्वाण (मोक्ष) का टिकिट

मिलने वाला नहीं है। कल भी मैंने कहा था कि टिकिट मिलेगा ईर्ष्या-डाह को छोड़ने से, आचरण जैनत्व के अनुकूल बनाने से। तभी हमारा नाम वेटिंग लिस्ट में आयेगा। तभी भावों को सीमित करने की स्थिति आयेगी। जहां दो बर्तन हो वहां आवाज होती है। मारवाड़ में कहावत है- भंडेल होती है तो खड़खड़ाती है। जहां दो वर्तन हो वहाँ आवाज होती है वैसे ही जहाँ दो भाई होते हैं वहाँ ऊँची-नीची बात भी होती है। परन्तु ध्यान यह रहना चाहिये कि भीतर गांठ नहीं बने। भीतर तुनक मिजाजी न बने तभी संधान बुद्धि बन सकती है जिसकी बात स्तुति में कही गई है। अतः आवश्यक है कि भाई किसी प्रकार की गांठें हों तो निकाल दें। टेकला बुद्धि बनेगी, जगेगी तभी जैनत्व के संस्कार जागृत होंगे, तभी हमारी चारित्र की खेती लहलहाती चली जायेगी और यही वह स्थिति होगी जिसमें हम सफल संधान कर पायेंगे। ऐसे ही संधान की सिद्धि हमें उस अभेद की स्थिति में पहुँचा देगी, जिसमें सिद्ध भगवान् के साथ हम एकाकार हो सकेंगे।

□□

15. गुण मकरन्द का आस्वादन

क्या कारण है कि कोई व्यक्ति परमात्मा के चरणों में तल्लीन हो जाता है, कोई मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेता है और किसी में उत्तम कुल आर्य क्षेत्र प्राप्त होने पर भी परमात्मा की भक्ति की भावना नहीं बनती, भक्ति उसे नहीं सुहाती ? इसके पीछे कारण हैं? कारण ढूंढने पर निदान हो सकता है। उपयुक्त निदान के बिना बीमारी ठीक भी नहीं होती। एक को ठीक करें तो दूसरी पैदा हो जाती है।

विचार करें कि वृक्ष सूख रहा है, उपयुक्त निदान नहीं किया और पत्तों पर ही पानी देते रहे तो क्या जीवित रहेगा और फल देगा ? वह क्यों सूख रहा है, इसका कारण ढूंढ कर निदान करेंगे तभी हम इससे फल भी प्राप्त कर सकेंगे।

क्या कारण है कि भक्ति में मन नहीं लगता ? कारण ढूंढ भी लिया, पर जब तक रस को प्राप्त नहीं किया तब तक मन नहीं लगेगा। कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें लड़ाई में रस आता है। किसी को निन्दा में, किसी को पढ़ाई में तो किसी को भक्ति में रस आता है। अतः जहाँ जिसकी रुचि बनती है, वहीं उसे रस आता है।

जब तक बालक पाठशाला नहीं जाता, गुड्डे-गुड़ियों के खेल में ही मस्त रहता है, तब तक उसे पढ़ाई का आनन्द भी नहीं आता। शुरू-शुरू में उसे जबरन स्कूल भेजा जाता है। कभी कहते हैं क्या जबरन कोई काम हो सकता है ? हाँ, कभी-कभी जबरन भी काम लिया जा जाता है। कभी गोली-बिस्किट से काम हो जाता है, तो कभी मारने से भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कहीं जबर्दस्ती भी की जाती है, पर उसके पीछे भाव शुद्ध होते हैं। अतः कहा है -

गुरु कुंभकार सारिखा, गढ़-गढ़ काढ़े खोट ।
अन्तर हाथ सहारा दे, ऊपर मारे चोट ।।

गुरु कुंभकार जैसे कैसे होते हैं ? भीतर हाथ रखते हैं वे बाहर थपकी देते हैं। वैसे ही जैसे कुंभकार कभी डण्डे की चोट बाहर देकर घड़े को ठीक करता है। वह घड़े को फोड़ना नहीं चाहता। फोड़ना ही यदि चाहता तो बनाता क्यों ? उसकी भावना यह होंती है कि डण्डे से मारकर या बाहर थपकी देकर आग में पकाकर उसे इतना मजबूत कर दूँ कि फिर जहाँ भी जाए उसकी कीमत मिले।

क्या मिट्टी के ढेले की कीमत होती है, व्यक्ति मिट्टी को भले ही ठोकरें मार-मार कर चला जाये पर वही मिट्टी जब कुंभकार के हाथ आ जाती है तो कुंभकार भी उसे पैरों तले खूब रौंदता है। उस समय मिट्टी विरोध करे कि क्या कर रहे हो मेरे साथ ? मुझे पांवों से क्यों रौंद रहे हो, तो वह आगे प्रगति की यात्रा नहीं कर सकती। वह सहन करती गई, उसने कोई विरोध नहीं किया। फिर आग का ताप भी सहा। परन्तु जब पक कर बाजार में घट-रूप में आई तो उसकी कीमत हो गई या नहीं ? क्या ऐसे ही हो गई ? उसके बाद भी प्रत्येक ग्राहक परखने के लिये ठोले मारता ही होगा। परन्तु प्रतिकार में वह कुछ नहीं बोलता। "चार आने की मटकी लाया ठोला मार्‍यां चार।" आज चार आने में मटकी नहीं मिलती। ५-१० रुपए लगते हैं। हमें तो भाव-ताव मालूम नहीं। चाय-शक्कर के क्या भाव हैं, पूछ लो, तो भी हमें नहीं मालूम। आपको भी शायद ही मालूम हों, क्योंकि आज तो नौकर से काम लेते हैं। फिर भी वहाँ ध्यान रखते हैं कि वह कितने पैसे का माल लाया है। जितने पैसे दिये थे उसमें से कम का माल लाकर बाकी बचे पैसे कहीं जेब में तो नहीं रख रहा है ? तो मैं कह रहा था कुंभ की बात-जब तक ढेला था, तब तक उसकी कीमत नहीं आंकते थे। परन्तु वही जब घड़ा बनकर व्यापारी के हाथ में गया तो वहाँ से खरीदा गया और बहनों के हाथ में गया। आज तो नहीं पर पहले वे उसे सिर पर उठाकर लाती थीं। अब आप समझिये- मिट्टी के साथ थोड़ी बल जबरी तो हुई पर उसके लाभ के लिये, वैसे ही जैसे जब पुत्र या शिष्य पढता नहीं है तो उसके साथ जो थोड़ी डाँट-फटकार होती है। वह उसके लिए लाभप्रद ही होती है। यदि वह सोचे मेरी तो डांट

फटकार हो रही है, मेरी प्रशंसा नहीं निन्दा ही निन्दा हो रही है, तो क्या उसका विकास होगा ?

एक चित्रकार का लड़का था। उसने एक सुन्दर चित्र बनाया और खुश हो पिता के पास ले गया। उसका विचार था कि ये पिता भी हैं, साथ ही कला के पारखी भी हैं। अतः मेरी प्रशंसा करेंगे, पर पिता ने चित्र को देखा और कहा- वैसे तो ठीक है पर यहाँ-यहाँ से त्रुटि रही है। पुत्र विनय के साथ पुनः सुधार के लिये प्रयत्न करने लगा। फिर नई कृति बनाई और बड़े उत्साह-उमंग के साथ पिता के पास पहुँचा परन्तु पिता ने पुनः कुछ त्रुटियाँ बता दी। उसने फिर सुधार किया परन्तु फिर त्रुटियाँ बता दी गई। यह क्रम चलता रहा, पर हर बार रटा-रटाया उत्तर था। शब्दों में अंतर हो सकता था, पर लगभग भाव यही रहते थे। कभी भूषा में कमी बताते तो कभी नाक-नक्श या हाथ-पाँव की बनावट में त्रुटि बताते। वह भी ध्यान देकर परिमार्जन करता रहता था। तो उसकी कला में निखार आता चला गया। एक दिन बड़ी मेहनत से सुन्दर कृति बनाई। उसकी बाँछें खिल गईं- अहा ! मैंने सर्वश्रेष्ठ कृति बनाई है। दुनियाँ में इससे बढ़कर कृति हो ही नहीं सकती। आज तो पिताजी देखते ही प्रसन्न होंगे- तूने मेरा नाम रोशन कर दिया। मन में ऐसी कल्पनाएँ संजोता पहुँचा पिता के पास।

पिता ने कृति देखी, मन ही मन प्रसन्न हुए पर ऊपर से कहा- पुत्र ! इसमें थोड़ी सी यह स्थिति होती तो इसका महत्व कुछ और ही हो जाता।

पुत्र के भाव आज कुछ और थे। एकदम ताव आ गया- आपने कभी ऐसी कृति बनाई है ? मैं प्रतिदिन मेहनत करता हूँ फिर भी आप कोई न कोई कमी बताते रहते हैं। बधाई नहीं देते तो कोई बात नहीं, पर कभी कृति का मूल्यांकन तो होना ही चाहिए।

पिता समझ गये कि आज इसके अन्तराय कर्म आड़े आ गये हैं। अब इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया है, इसलिए इसके मन में ऐसे भाव आये हैं। वे बोले- पहले तो तुम्हें जब मैं त्रुटि

बताता था तो तुम सुधार की भावना रखते थे। यही कारण है आज इस सिरमौर अवस्था में पहुँच पाये हो। अब तुम्हारा अहं आड़े आ रहा है। कला-कला होती है। इसमें व्यक्ति विराम न ले तो और भी पारंगत हो सकता है। पर जब कोई अपने आप को पूर्ण मान ले और अन्य के द्वारा बताई गई गलती सुनने की क्षमता उसमें नहीं रहे तो उसका पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग बंद हो जाता है। अतः आवश्यक है कि कलाकार में पहले तो गलती सुनने की क्षमता हो, फिर गलती को गलती मानने की समझ भी हो, तभी वह विकास कर सकता है। पर जो सुनना नहीं चाहेगा वह क्या खामियों को निकाल पायेगा ? मैं देख रहा हूँ कि अब तुम्हारी भावना में अंतर आ गया है। पहले तो तुम त्रुटि को मानकर उसे सुधारने का प्रयत्न करते थे पर अब अपने आपको पूर्ण समझने लगे हो और किसी से त्रुटि के विषय में कुछ सुनना भी पसन्द नहीं करते तो समझ लो कि अब तुम्हारा सर्वांगीण विकास नहीं हो सकेगा। मैं मानता हूँ कि यह तुम्हारी अनुपम कृति है, उसकी कला को मैं हृदय से सराहता हूँ पर इसकी प्रशंसा मैंने इसलिये नहीं की क्योंकि नीतिकारों का कथन है कि पुत्र व शिष्य की प्रशंसा उसी के सामने कभी नहीं करनी चाहिये। जो हर क्षण यही चाहेगा कि देखूँ पिताजी मेरे लिये क्या बात कह रहे हैं, मेरी क्या प्रशंसा कर रहे हैं, वह हमेशा अपने बारे में अच्छी बात ही सुनना चाहेगा। ऐसी भावना रखने वाला कभी भी कटु सत्य नहीं सुनना चाहेगा। यह बात समझ ली जानी चाहिये कि सत्य कभी कटु नहीं होता, वह तो विकास कराने वाला ही होता है। पर जब सत्य को कटु चिरायता मान लिया जाता है तब विकास रुक जाता है। मैं तो कहता हूँ सत्य मधुर ही होता है। जहाँ से भी चखो वह मधुर ही लगेगा। लेकिन यदि किसी को मलेरिया हो गया तो फिर वह चाहे गेहूँ की रोटी ही खाये, उसे कटु लगेगी। बुखार में कोई भी रोटी खाने को दी जाय और पूछा जाय तो कहेगा कड़वी है। पर क्या रोटी कड़वी होती है ? बुखार से विकृति आ गई होती है अतः विकृति के क्षण में रोटी भी कड़वी लगती है। वैसे ही जब मन में विकार आ गया होता है त

भी कड़वा लगता है। सत्य की मिठास का अनुभव भी तब नहीं हो पाता। यदि सत्य में से विकार को अलग कर दिया जाय तो ऐसी स्थिति नहीं आयेगी क्योंकि तब वहाँ वैसा कड़वापन नहीं होगा। अतः शुद्ध सात्विक भाव से सत्य का अन्वेषण हो सकेगा।

चित्रकार के पिता ने उससे कहा- अब तुम्हारे विकास का मार्ग अवरूद्ध हो गया है क्योंकि तुम्हारे मन में अहं भाव आ गया है। कला के पीछे भी भाव रहते हैं, यदि भावों को ख्याल में रखें तो ही कला महत्वपूर्ण होगी, पर यदि स्वयं में अभिमान या अहं की भावना आ जाती है तो कला का भी अवमूल्यन हो जाता है।

यह बात भी समझ ली जानी चाहिये कि यदि कला में भावों का सम्प्रेषण नहीं होगा तो वह लोगों को आकर्षित नहीं कर पायेगी। यदि भावों का पुट अच्छा होगा तो वह कला आकर्षित किये बिना नहीं रहेगी। भावों को कला का पारखी ही जानता है, नहीं तो हीरे की कीमत कूंजड़ा क्या जाने ? यदि वह दस-बीस में खेलने वाला है तो दस-बीस, ज्यादा से ज्यादा सौ-दो सौ की कीमत आंक सकता है। पर जो लाखों में खेला है वही उसकी कीमत आंक सकता है। पिता ने कहा- अब तुम्हारी कला अवरूद्ध हो जायेगी, क्योंकि अब तुम अपनी त्रुटि को सुनना ही नहीं चाहते हो तो निराकरण का तो प्रसंग ही नहीं आयेगा, कला में भी निखार नहीं आयेगा।

बन्धुओं ! अभी मैंने कला की बात कही है। उससे पहले बोल गया था कि कला में भी जब तक रस होता है तब तक कलाकार त्रुटि का मार्जन करता चला जाता है। परन्तु जब भीतरी रस सूख जाता है तो कला का विकास भी विराम ले लेता है। विकास संभव ही नहीं रहता। अतः हमें चिंतन करना है कि हमने कितना विकास किया है। यदि कोई हितैषी हमसे हित की कोई बात कहता है तो हममें वह सुनने के भाव हैं या नहीं ? यदि भाव ही नहीं हैं तो आगे का तो प्रसंग ही उत्पन्न नहीं होता। सुनने की क्षमता ही नहीं तो विरोध करोगे कि यह बात कैसे कह दी ? क्यों कह दी ? मैं बोल रहा हूँ और आप सुन रहे हैं। अगर आप कह दें कि यह बात कैसे

कह दी तो इसका उत्तर क्या होगा ? ऐसे विचार यदि लेते चले जाओगे तो सुन नहीं पाओगे। क्योंकि महावीर ने कहा है उपयोग एक तरफ रहता है, यदि सोचने लग जायें तो सुनने में ध्यान नहीं रह पायेगा अतः आधी बात सुनेंगे, आधी नहीं सुनेंगे। इस स्थिति में वता नहीं पायेंगे कि क्या सुना। अतः सुनना हृदय से होना चाहिये। यदि हृदय से सुनते रहे, मस्तिष्क भी काम करता रहे तो "अधजल गगरी छलकत जाय" वाली बात चरितार्थ होगी। अतः पहले सुन लिया जाय, फिर जब कहने की स्थिति हो तो कहा जाय कि यह होना चाहिये।

सुनने की भी कला होती है, उपयोग सुनने में ही रहे। मैंने सुना है, कभी जाने का काम तो नहीं पड़ा कि संसद में प्रश्नकाल और शून्यकाल दोनों अलग से रखे जाते हैं। ऐसा होता है या नहीं यह तो आप जानते देखते होंगे। प्रश्नकाल में अपने-अपने मन के प्रश्नों को उकेरा जाता है। परन्तु यदि परिचर्चा के दौरान सहनशीलता का अभाव रहा तो संसद समाज और राष्ट्र सभी को हानि ही होती है। इस प्रकार चाहे कहीं भी हो, चाहे संसद में हो या अन्य कहीं, सुनने का कार्य और चिन्तनकाल अलग हो तभी समझ सही होती है।

बन्धुओं ! मैं बोल रहा हूँ तत्व की बात परन्तु तत्व की बात की भी सीमा होती है। सीमा का अतिक्रमण होता है तो वह भी ऊबाने वाली बन जाती है। इस स्थिति का एक इलाज होता है। थोड़ा विषयान्तर कर दिया जाय या विनोद का पुट डाल दिया जाय। आप सभी जानते हैं कि विनोद की अपनी महिमा होती है परन्तु क्या यह भी जानते हैं कि विनोद कहते किसे हैं ? सामान्यतः जिसे विनोद माना जाता है वह मात्र मनोरंजन होता है। विनोद और मनोरंजन को कई बार एक मान लिया जाता है पर दोनों में अन्तर है। कहा गया है-'विशिष्ट नोदयति इति विनोदः' -जिसमें विशिष्ट रूप से प्रेरणा दी जा रही हो, वह विनोद हो सकता है। शास्त्र या काव्यों के विशेष प्रसंगों के माध्यम से और नाच-गान, ढोल-ढमाके से भी मनोरंजन हो सकता है। क्योंकि कहा गया है -

काव्य शास्त्र विनोदेन, कालो गच्छति धीमतां ।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया कलहेन वा ।।

विद्वानों का विनोद काव्य से होता है। कभी-कभी स्थिति विशेष भी अपने प्रस्तुतीकरण की शैली से विनोद का माध्यम बन सकती है। गूढ़ता का तत्व इसमें कैसे छिपा होता है इसे एक उदाहरण से समझें।

रूस का एक कम्युनिष्ट पर्यटक भारत आया। उसने अपनी भारत यात्रा के सन्दर्भ में लिखा है कि पहले मैं नास्तिक था। किन्तु भारत-भ्रमण के बाद मेरे विचारों में तब्दीली आ गई और मैं आस्तिक बन गया हूँ। मुझे लगने लगा है कि कोई अदृश्य शक्ति ऐसी अवश्य है जो संसार का संचालन कर रही है।

आप सोच रहे होंगे कि अच्छा हुआ भारत-यात्रा के बाद एक नास्तिक आस्तिक हो गया। पर ऐसी बात नहीं है, उसने आगे लिखा है "मैंने भारत के लोगों को देखा है और जाना है कि वे कैसे कामचोर हैं और वहाँ के राजनेता अत्यंत भ्रष्ट हैं फिर भी देश चला रहे हैं। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कोई न कोई ईश्वरीय शक्ति अवश्य है जो इस देश को चला रही है अन्यथा भारत में प्रजातंत्र इतने वर्षो तक कैसे चलता?" प्रजातन्त्र आज सीटों के तालमेल से चल रहा है। न जाने कितने दल जुड़ जाते हैं। इतने घोड़े जिस रथ में जुड़े हैं और एक सारथी है। भगवान ही मालिक है उस रथ का। हम लोग कभी कहते हैं कि क्या होगा ? भगवान जाने ? ईश्वर ही जाने ? दल-बदल, इतनी ताम-झाम, ऐसी उठा-पटक और परिणाम ? वही-ढाक के तीन पात। गणेशोत्सव के बाद गणपति की मूर्ति को पानी में पधरा दिया जाता है। यही खेल हमारे गणतंत्र राजनीति में खेला जा रहा है। यही खेल यदि परिवारों में आ जायेंगे तो क्या होगा ? यथार्थ में देखा जाए तो जीवन के लिए लाभप्रद अवस्था नहीं है। हमारा ध्यान तो तीर्थंकर देवों की उपासना में होना चाहिए। सहिष्णुता के अभाव में ऐसे दांवपेच खेले जाते हैं। कभी इससे हाथ मिलाओ, कभी उससे। यह हाथ मिलाने के दांवपेच की नीति वोटों के लिये होती है। पर ध्यान इस बात पर

देना है कि क्या राजनीति जनता के लिये लाभदायक हो सकती है। ऐसी ही बातें धर्म में भी आ सकती हैं यदि ध्यान प्रार्थना में न हो और अन्यत्र हो, अथवा प्रार्थना की ओट में कोई अन्य उद्देश्य सिद्ध करना हो। जब तक प्रार्थना में रस नहीं होगा तब तक धर्म में भी ऐसे दांवपेच होते रहेंगे परन्तु जब मन परमात्म-रस में लीन हो जायेगा, तब वह स्थिति बनेगी जिसकी कल्पना कवि ने इस प्रकार की है -

मुझ मन .... लीनो गुण मकरन्द

मकरन्द तभी लिया जा सकता है, जब वैसी भावना होती है। भंवरे का रंग कैसा है ? काला। परन्तु काला तो गोबर में पैदा होने वाले गिण्डोले का भी होता है।

दशवैकालिक सूत्र में फूलों का रस लेने की बात कही गई है। वहाँ संदर्भ भौंरा है। वह फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है। इसी प्रयास में रत एक भौंरे ने एक दिन जंगल में गिण्डोले को देखा। वह भी उसके जैसा ही काला था। उसे देखकर भंवरे ने सोचा कि यह मेरी जाति का भाई है। वह थोड़ा नीचे उड़ान भर कर उस गिण्डोले के पास आया और बोला- यहाँ क्या करते हो ? चलो मेरे साथ, मेरी बगीची में। वहाँ इतना मकरन्द मिलेगा कि तुम्हारा मन खुश हो जायेगा। उस गिण्डोले ने कहा- मैं तो यहीं खुश हूँ। परन्तु भंवरा उसे जबरदस्ती ले गया और फूलों की मकरन्द के बारे में बताया- देखो, कैसी खुशबु आ रही है। गिण्डोले ने कहा-मेरा तो और माथा चढ गया है। कुछ भी फर्क नहीं लग रहा है। भौंरें ने ध्यान से देखा तो पाया कि उसके मुँह में तो वही गन्दगी भरी थी। भ्रमर ने कहा- जरा अपने मुंह की गन्दगी बाहर निकालो, तभी इस बगीचे के मकरन्द का आनन्द आ पायेगा। उसने भ्रमर की बात मानी या न मानी यह तो एक काल्पनिक प्रसंग है। पर समझने की बात यह है- जब तक मन में, विचारों में और बुद्धि में मलिनता भरी है तब तक नीति-न्याय आदि के प्रति रूचि बनेगी ही नहीं।

अतः हमें देखना है कि आज व्यक्ति चाहे राजनीति में हो या

सत्ता सम्पति में लग गया हो, वह उसी में इतना मशगूल बन गया है कि परमात्मा के मकरन्द रस में उसे आनन्द आता ही नहीं है। आये कैसे ? क्योंकि उसकी प्रवृत्ति तो भौतिक लाभालाभ की ओर ही है और उस ओर से वह अपना ध्यान हटाना ही नहीं चाहता। परन्तु व्यक्ति जब आध्यात्मिक मकरन्द लेने की स्थिति में आ जाता है तब वह उसे छोड़ नहीं सकता। परन्तु इस स्थिति में नहीं आता, भक्ति भी नहीं हो सकती। इसीलिये कहा गया है – "..... लीनो गुण मकरन्द।" पहले उससे परिचय प्राप्त करें। यह परिचय यदि मिल जाय तो आप स्वतः ही कह उठेंगे यह रस तो कामयाबी है। इसको थोड़ा सा लोहे पर डाल दिया जाय तो लोहा सोना बन जाता है। आज तो इस प्रकार का केमिकल बनाया जाता है। परन्तु पहले साधना के आधार पर ऐसा रस तैयार किया जाता था। इस संबंध में एक दृष्टांत है।

एक बार एक व्यक्ति ने ४० साल तक साधना करके साधना का पानी तैयार किया, जिसे लोहे पर छिड़कते ही लोहा, सोना बन जाता था। जहाँ तक मैं नाम नहीं भूल रहा हूँ वह आचार्य शुभंकर का भाई था। वह ४० साल की साधना का पानी लेकर लॉरी में चल रहा था। आचार्य शुभंकर से मुलाकात हो गई। बताया– ४० साल की साधना से यह रसायन मैने पाया है। आचार्य शुभंकर ने उस रसायन कुप्पी को देखा, देखते ही पांव की ठोकर मारी। रसायन गिर गया। पहले जो सोना बना सो बना, उसे बड़ा आक्रोश आया। बोला, आपने मेरे ४० साल मिट्टी में मिला दिये। आचार्य शुभंकर बोले– ४० साल मिट्टी में तो तूने स्वयं ने मिलाये, मैं क्या मिलाऊँ? कैसे मिलाये ?

हम जानते हैं कि जो साधक साधना में रमण करते हैं उन्हें कितनी उपलब्धियाँ हो जाती हैं ? उनके लिये तो यह कथन चरितार्थ होता है –

"शूली का सिंहासन हो गया, शीतल हो गई ज्वाला"

सेठ सुदर्शन मुहकम रहा, यह नहीं कि आज इसके साथ हाथ

मिलाया, कल उसके साथ। हाथ मिलाने की राजनीति नहीं खेली। नहीं खेली तो क्या हुआ ? शूली का सिंहासन हो गया। कह देंगे, यह चौथे आरे की बात है। आज ऐसा नहीं हो सकता। मैं कहता हूँ ऐसा हो सकता है। आज भी शूली का सिंहासन हो सकता है, पर सुदर्शन बनने की आवश्यकता है।

आचार्य शुभंकर का भाई कह रहा था- मेरी ४० साल की मेहनत (साधना) मिट्टी में मिला दी। शुभंकर ने कहा- तुम्हारी साधना तो पहले ही धूल बन चुकी है। क्योंकि तुम भौतिक पदार्थों को पाने में ही जीवन के ४० साल व्यतीत कर चुके हो। जब उसे बात समझ में नहीं आई तो आचार्य ने अपने पास के एक पात्र में लघु शंका की और उसे एक चट्टान पर डाल दिया। उसने (भाई ने) देखा- सारी चट्टान सोने की हो गई थी। चारों तरफ सोना ही सोना चमकने लगा था। इतनी सिद्धि प्राप्त होते हुए भी उनके मन में कोई अहंकार नहीं था कि मेरे पास इतनी सिद्धि है।

उन्होंने भाई को प्रबोध देते हुए कहा- जो साधना करते हैं अनेक सिद्धियाँ उन्हें अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। मैंने इन सिद्धियों को पाने में समय नहीं लगाया। मैंने समय लगाया है गुण मकरन्द को पाने में। इस तरह जो समय लगाये तो जिस टेकरी पर वह पेशाब डाले वह सोने की बन जाये। मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। मैंने ध्यान दिया आत्म-साधना की ओर। ऐसे छोटे-छोटे दृष्टांत हमें शिक्षा देते हैं कि हम भी गुण मकरन्द पाने की भावना रखें। यदि कोई त्रुटियां बताये और उनकी तरफ ध्यान न देकर हम आवेश में हो जायें तो सारे गुण मिट्टी में मिल जायेंगे। ऐसे लोग गुण मकरन्द नहीं पा सकते।

एक नवदीक्षित मुनि जिसे गुरू शिक्षा दे रहे थे, पाँव पसार बैठा तो गुरु ने कहा- "वत्स ! साधु को ऐसे नहीं बैठना चाहिए।" शिष्य ने दीवार का सहारा ले लिया तो गुरू बोले- "भाई ! बिना पूंजे सहारा नहीं लेना।" जब वह इधर-उधर देख रहा था तब कहा- "भाई ! इधर-उधर नहीं देखना। सामने शरीर प्रमाण देखकर चलना

चाहिये अन्यथा जीव हिंसा हो जायेगी, ऐक्सीडेण्ट हो जायेगा। सामने ध्यान रखना चाहिये अन्यथा यदि सामने से वाहन आ गया और दूसरी तरफ देखते रहे तो चोट लग जायेगी। अतः साढ़े तीन हाथ प्रमाण सामने देखकर चलने का भगवान ने संदेश दिया है। यदि कोई शिष्य ऐसे निर्देशों की भावना को नहीं समझे और उसके मन में यह आ जाये कि 'ये गुरु क्या बन गये बहुत उपदेश देने लगे। ये नहीं करना, वो नहीं करना।' तो क्या होगा ? निश्चित रूप से धर्म मार्ग से च्युत हो जायेगा।

हम जानते हैं कि यदि एक नया नौकर भी दुकान पर रखा जाता है तो उसको यह करना, यह नहीं करना जैसी सारी हिदायतें दी जाती है। जब तक व्यक्ति ठोकरें नहीं खाता है तब तक वह अपना परिमार्जन भी नहीं कर पाता है।

गुरु का दायित्व संशोधन देने का होता है। यदि वह ध्यान न दे तो उस (शिष्य) का संतुलन बिगड़ जाता है। स्थविर का कर्तव्य है कि वह साधक को साधना में स्थिर करे। यदि कहीं त्रुटि हो जाए तो कहे- भाई ! तुम यह क्या कर रहे हो ? यह कर्म बन्धन का कारण है, इस तरह नहीं करना। ऐसा करोगे तो साधना में मोह आ जायेगा।

शिष्य भी यदि अपने हित के लिए सुनता है तो वह सुनना उसके स्वयं के लिए लाभप्रद है क्योंकि यदि सुनकर वह गुण मकरन्द को जीवन में उतार पायेगा तो उसका जीवन उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनता जायेगा। इस प्रकार शिष्य अपना परिमार्जन कर जब संशोधन की स्थिति में आता है तब वह अपने जीवन को उच्चतर सोपानों की ओर ले जाने में सफल होता है। तब वह उस गुण मकरन्द का आस्वादन करने की क्षमता भी प्राप्त कर पाता है, जिसके सामने सभी सांसारिक आस्वादन फीके लगते हैं।

□□

16. सच्ची वन्दना का स्वरूप

दुःख दोहग्ग दूरा टल्या रे, सुख स्म्पत्ति सूं भेंट ।
धींग धणीं माथे कियो रे, करेण गंजे नर खेड़ ।।
विमल जिन दीठा लोयण आज ....

विमल जिनेश्वर के दर्शनों की अनुभूति का भजन इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। विमल का तात्पर्य होता है मल-रहित, मल जहाँ से विगलित हो गया हो। जो विगत-मल हो, जहाँ से मल नष्ट हो गया हो, दूर हो गया हो, मल शेष नहीं रहा हो और परम् शुद्धता का स्वरूप प्रकट हुआ हो।

मल दो प्रकार का कहा गया है। एक, द्रव्य मल अर्थात् अशुचि। वह अशुचि अथवा मल जो शरीर में रहता हो। हम जानते हैं कि शरीर में अनेक प्रकार की अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। इन्हीं को द्रव्य मल माना जाता है। दूसरे वे हैं जो आत्मा से लगे हैं। राग-द्वेष उनके बीज हैं। उन्हीं के पोषण से काम, क्रोध, मद, मत्सर, ईर्ष्या, डाह न जाने कितने-कितने फल-फूल उसमें लग जाते हैं। यदि एक राग-द्वेष रूपी मल को हटा दिया जाय तो ये सारी अवस्थाएँ निर्मल हो जायेंगी, बढ़ नहीं पायेंगी। आत्मा के साथ जब-तक यह अशुचि लगी रहती है तब तक आत्मा दिग्भ्रान्त बनी रहती है। किस मार्ग से चलना चाहिए, यह बोध उसे नहीं हो पाता। यही नहीं, यह बोध भी नहीं रहता कि कब से वह संसार समुद्र में डुबकी लगा रही है? डुबकी ही नहीं, कितनी ही बार इसमें डूबी है फिर भी इसी में गोते लगा रही है। ध्यान रखिये, समुद्र भी विकार अपने में नहीं रखता, एक बार भले ही व्यक्ति उसमें डूब जाय, पर अगले ज्वार के साथ ही समुद्र की लहरें उसे तट पर फेंक जाती हैं। तब भी व्यक्ति यदि संभल जाता है तो उसकी चपेट से बच सकता है। परन्तु यदि तब भी संभल नहीं पाया तो दूसरी बार की लहरों

से पुनः सागर में चला जाता है। समुद्र की इस प्रकृति की तनिक हम अपनी प्रकृति से तुलना करें।

कहा जाता है सर्पिणी जब बच्चे देती है (अण्डे देने की भी मान्यता है और बच्चे देने की भी), तब वह कुण्डली मारकर बच्चे देती है। उनमें से वही बच्चा जीवित बचता है जो कुण्डली से बाहर निकल जाता है। भीतर रहने वाले बच्चों को वह सफाचट कर देती है। उसी प्रकार जो राग-द्वेष की कुण्डली में घिरा रहता है वह संसार सागर से किनारे नहीं लग पाता है। वह काल-सर्पिणी द्वारा खा लिया जाता है। इसी प्रकार यदि समुद्र की लहरों में संभल नहीं पाता तो एक थपेड़ा आता है, संभलने की कोशिश करता है इतने में तो दूसरा थपेड़ा आकर उसे पुनः सागर में डाल देता है। ऐसे में जैसे लकड़ी का सहारा होता है वैसे ही संसार सागर में जिनेश्वर देव के चरण का सहारा होता है।

जिनेश्वर देव का मन इतना विमल है कि हल्का हो गया है। जो खुद तिर गया है, वही दूसरों को तिराने में सहायक होता है। पानी में लकड़ी तैरती है, पर यदि पत्थर के टुकड़े हों तो क्या हश्र होगा, हम समझ सकते हैं। यह बात अलग है कि राम के लंका जाते समय पत्थर भी तिरने लगे थे। विश्वास नहीं होता कि पत्थर भी तिरने लग जायं। परन्तु इस दुनिया में बहुत आश्चर्य हैं, हम उन पर विश्वास करें न करें, कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। क्योंकि दुनियाँ में ऐसे-ऐसे अचिन्त्य पदार्थ भरे पड़े हैं जिन्हें हम देख नहीं पाते, अतः उनका विश्वास नहीं करते। इसलिये पत्थर के तैरने में भी विश्वास नहीं करते।

राम के भक्त या यों कहूँ भक्त शिरोमणि के रूप में भी जिसका नाम लिया जाता है वह नाम -हनुमान। आपने भी देखा होगा कि राम की फोटो कहीं पर भी हो, उनकी सेवा-उपासना में हनुमान हमेशा खड़े रहते हैं। इन्हीं हनुमान से संबंधित एक प्रसंग आता है। हनुमान जब घर जाकर कहते हैं- माता मैंने इस तरह से समुद्र-लंघन किया, ऐसे लंका को जलाया, ऐसे सीता से मिला आदि,

तव मां अंजना के मन में विचार आता है कि यह अपनी बातों को ही वघार रहा है, राम के श्री चरणों में पहुँच कर भी बदला नहीं। जहाँ परिवर्तन आना चाहिये था वहाँ यह कहता है- मैंने यह किया, वह किया ....। सारी वात सुनकर मां ने कहा मुझे इस बात पर वहुत दुःख हो रहा है कि मेरी कुक्षि से जन्म लेकर भी मेरी कुक्षि को तूने लजाया है। हनुमान को बड़ा आश्चर्य हुआ- सभी मेरी प्रशंसा कर रहे हैं कि हनुमान यदि नहीं होता तो यह नहीं होता, वह नहीं होता .... और माँ कह रही है मेरी कुक्षि को लजाया है।

माँ कह रही है कि तेरे जैसे कायर को जन्म न देती तो आज मैं कायर की माँ नहीं कहलाती ? क्या यह बात सही है ? आप जानते हैं कि हनुमान को महावीर विशेषण दिया गया है। रामायण में भी उन्हें वीर हनुमान कहा गया है। पर यहाँ माँ कह रही थी- तेरे जैसे कायर को जन्म दिया। हनुमान सोच रहे हैं कि मेरी कायरता किस रूप में है यह तो सिद्ध हो जाय ? निवेदन किया- माँ जरा मुझे भान तो करा दो। माँ ने उत्तर दिया- मैं कैसे अनुभव कराऊँ ? स्वयं करो। अहंकार में भान नहीं रहता, यदि भान हो तो ज्ञान कराने की आवश्यकता क्या है ? मैं अपने मुख से क्या कहूँ? तू अभिमान से कह रहा है- मैंने लंका जलायी, क्या किया तुमने ? तुम्हारे जैसे स्वामिभक्त के रहते श्री राम को शस्त्र उठाना पड़ा और तुम अपने आप को वीर मान रहे हो किन्तु तुम्हारे रहते लक्ष्मण को गदा उठानी पड़ी ? हनुमान को समझ में आ गया कि यदि सेवक के रहते स्वामी को शस्त्र उठाना पड़े तो यह सेवक की कमजोरी ही है।

भगवान् महावीर से जयन्ती श्रमणोपासिका ने प्रश्न पूछा- "भगवान ! संसार में जीव हल्का कैसे होता है और भारी कैसे होता है ? संसार सागर में डूबता कैसे है और उवरता किस कारण से है?" भगवान् महावीर ने समाधान देते हुए कहा- १८ पाप सेवन करने वाला भारी होता है, इस कारण वह संसार में डूबता है। जो इनसे विरत हो जाता है, रहित हो जाता है, उन्हें त्याग देता है, वह संसार-सागर से तिर जाता है। पत्थर को हम डूबने वाला कह देते हैं, डूबता भी होगा पर इसके साथ बड़ा भावात्मक संबंध भी जुड़ा

हुआ है। अनन्तानुबन्धी मान का क्या उदाहरण प्रस्तुत किया है, मालूम है ? परन्तु यह अनन्तानुबन्धी मान कैसा होता है ? यह मकान किस पर खड़ा है ? खंभे पर, पत्थर के खंभे पर। खंभे दो प्रकार के होते हैं- एक पत्थर का और एक लोहे का। दोनों में से कौन नमेगा ? आग में तपाने पर थोड़ा सा सुधार हो सकता है-लोहा मुड़ सकता है पर पत्थर का खंभा आग में न झुकेगा न मुड़ेगा ? छैनी हथौड़ी से टूटना मंजूर है पर झुकना मंजूर नहीं। इसका उदाहरण है हमारी गर्दन।

विधि सहित वन्दन की बात तो बाद में पर पहले समझें कि अभिगम के संबंध में क्या बताया गया है। जहाँ भी ज्ञानी पुरूषों का या गुणी पुरूषों का समागम हो जाय तो वहाँ हमारी गर्दन झुकती है। यदि नहीं झुकती है तो समझिये कि अहंकार का पुट जुड़ गया है। कभी नहीं झुकती है तो उसका कारण होता है- गौरव का भाव। इससे संबंधित एक घटना है। एक चारण (दशरथ भाट) राजा के दरबार में जाया करता था। राजा हर बार उसे पगड़ी बन्धवाता था। एक बार पैसे दिये पर साफा नहीं बन्धवाया। चारण ने जब कारण पूछा तो बताया के तू हर कहीं जाता रहता है, हर किसी के चरणों में झुकता है। अब मेरी पगड़ी बान्धकर झुकेगा तो मेरी पगड़ी झुक जायेगी। यह मेरा अपमान होगा। इस बार भाट ने कहा-"नहीं अन्नदाता नहीं। मुझे तो पगड़ी ही चाहिये। और मैं वचन देता हूँ कि आपकी पगड़ी को हर किसी के चरणों में नहीं झुकाऊँगा।"

राजा ने पगड़ी बांध दी। कालांतर में वह भाट दिल्ली दरबार में पहुँचा। वहाँ उसने पगड़ी उतार कर बादशाह को नमन किया। बादशाह ने कारण पूछा तो बोला- सिर मेरा और पगड़ी अमुक की। यह गुलामी की स्थिति में नहीं झुक सकती। जहाँ गुणों का संवर्द्धन हो, यह वहीं झुकेगी। मैं तो पैसे का सेवक हूँ। जहाँ दो जून रोटी मिले, वहीं झुक जाऊँ, पर यह पगड़ी नहीं झुकेगी। बस, बड़ा बवाल मच गया। बात का बतंगड़ बन गया, क्योंकि बादशाह को उसकी बात लग गई थी।

कई बातें ऐसी होती हैं जो लग जाती हैं। आप जानते हैं कि द्रोपदी ने एक वाक्य कहा था जिसने चिन्गारी बन कर महाभारत मचा दिया। बन्धुओं ! रामायण, महाभारत जैसे ग्रन्थ केवल सुनने के लिये नहीं है। इनसे हमे शिक्षा लें। महाभारत तो क्या, दो महायुद्ध तो अभी हो चुके पर आने वाला भविष्य कितने महायुद्ध समेटे हुए है, कुछ पता है?

महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंसटीन से जिनकी बुद्धि का माप २१० माना गया है, किसी ने पूछा-"आप तो बहुत विद्वान हैं। आगे की, बहुत दूर की सोचने वाले हैं, बताइये तीसरे महायुद्ध के क्या हालात रहेंगे ?" आइंसटीन ने कहा-"तुम पूछ रहे हो तीसरे महायुद्ध की तो मैं नहीं कह सकता, पर चौथे की कह सकता हूँ।" लोगों ने सोचा- इसलिये इनकी बुद्धि को इतना तीव्र कहा गया है। इतना ज्ञान !! तीसरे युद्ध की नहीं, चौथे की बात कर रहे हैं ? कहा-"कोई बात नहीं, वही बता दीजिए, चौथा विश्वयुद्ध किससे होगा ?" उन्होंने उत्तर दिया-"चौथा युद्ध होगा ही नहीं।" समझ गये होंगे आप कि चौथा विश्वयुद्ध क्यों नहीं होगा ? केवल भाषा का अन्तर रहा है। परन्तु वे यही कहना चाहते थे कि जब तीसरे विश्वयुद्ध से ही सम्पूर्ण विनाश हो जायेगा तो चौथा होगा ही किससे?

महाभारत तो एक ही हुआ और द्रोपदी की एक बात हो गई तो हम भी उसी बात की पूजा में लग जायें ? रामायण खड़ी हुई मंथरा के निमित्त से, तो मंथरा की ही पूजा करें ? नहीं ! महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर का प्रसंग है। वे कभी भी गलत परामर्श नहीं देते थे, चाहे कैसी भी स्थिति बन जाय।

रामायण का प्रसंग है। रावण की मृत्यु से पूर्व श्री राम ने लक्ष्मण से कहा-"उठो, समय बहुत कम है, तुम जाकर रावण से पूछो, वे अपने जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंग बताएँ।" विचार कीजिये कि क्या रावण के जीवन के प्रसंग प्रेरक हो सकते हैं ? रावण का जीवन रहा होगा ? उसका तो कोई नाम लेना भी

करता। उसे तो उपनाम के रूप में भी कोई रखना पसंद नहीं करता। ऐसे व्यक्ति से शिक्षा की बात ? लक्ष्मण को भी अटपटा तो लगा कि ऐसे व्यक्ति से क्या शिक्षा लें परन्तु वे पहुँचे क्योंकि आदेश का पालन करना था। पर चरणों में कैसे खड़े होते ? सिर के पास खड़े हो गये और बोले- अरे ओ रावण मुझे शिक्षा दो। रावण ने पूछा- कौन हो तुम ? उत्तर मिला "मैं लक्ष्मण हूँ" रावण ने डपट कर कहा-"चल हट यहाँ से, तू शिक्षा के योग्य नहीं है।" मन में आया लक्ष्मण के कि अधमरा तो है ही अभी मार दूँ, मुझ से ऐसा कहता है ? पर विचार आया मरे को मारना कौन सी वीरता का कार्य है ? लौटे तो राम ने पूछा-"कौन सी शिक्षा मिली ?" लक्ष्मण ने कहा-"कहाँ भेज दिया मुझे, वह क्या शिक्षा दे सकता है?" राम ने कहा-"वह बडा नीतिज्ञ है।" फिर लक्ष्मण से सारी घटना सुनी और कहा-वस्तुतः तुम शिक्षा योग्य नहीं हो, सही बात कही उसने ! यदि शिक्षा पानी है तो पहुँचो चरणों में, निवेदन करो-"हे नीतिज्ञ रावण ! हे ज्ञानी पुरूष ! आप अपने नीति-खजाने में से कुछ शिक्षा मुझे भी दीजिये।"

लक्ष्मण का मन तो नहीं था, पर आज्ञा थी अतः पहुँचे और वैसा ही किया। तब रावण ने तीन शिक्षाएँ दी। तब समझ लो बन्धुओं ! यदि शिक्षा प्राप्त करनी है तो अभिमान का प्रदर्शन न करें, सिर की तरफ नहीं, चरणों की तरफ खड़े रह कर निवेदन करें। यहाँ तो भजन में कहा गया है -

चरण कमल कमला बसे रे ....

चरणों की महिमा की बात मैने पूर्व में भी कही है। आप संत को वंदन को जाते हो तो संतों के चरण-स्पर्श ही क्यों करते हो? माथे से माथा क्यों नहीं भिड़ाते हो ? माथा किससे भिड़ाया जाता है ? आप सन्तों से माथा नहीं भिड़ाते, उनके चरणों की वन्दना करते हैं क्योंकि "पूजा मूलो गुरुर्पादो, ध्यान मूलो गुरुमूर्ति" अर्थात् पूजा के लिए गुरु के चरण और ध्यान के लिये हृदय में गुरु की मूर्ति होनी

होने से नहीं तिर पाओगे। यहाँ तो अकेला खेल खेल रहे हो। विभिन्न रूप धारण करते हुए खेल खेल रहे हो, पर वहाँ नहीं चल सकता। यहाँ के भव-खेल के संबंध में भी कवि ने कहा है- सावधान मनसा करी। जिनेश्वर भगवान के चरणों की उपासना करनी है तो पहले मन को सावधान कर लो। जिनेश्वर देव की उपासना से पहले दूसरे पदार्थों को मन में भर लिया तो साधना हो नहीं सकेगी।

भेष तो बहुरूपिया के समान अनेक धारण करे, अनेक भावों के चोले धारण करे, पर क्या उससे तिरना हो जायेगा ? जैसे इन वस्त्रों की धवलता है वैसे ही मन की धवलता, निर्मलता आवश्यक है। पोशाक भी आवश्यक है, अतः उसका निषेध नहीं करते। परन्तु इस पोशाक में यदि गलत कार्य कर लिया तो पोशाक को देखते ही ध्यान आयेगा- अरे, तूने यह क्या किया, तू तो साधु है।

एक व्यक्ति पुलिस की पोशाक पहने और यदि प्राप्त राष्ट्रीय अलंकरण भी उसने धारण कर रखा हो और तब वह यदि अपराध करे और उसकी दृष्टि अपनी पोशाक व अलंकरण पर पड़े तो विचार आयेगा कि मुझे कोई देखेगा तो क्या सोचेगा ? अरे, इसने राष्ट्रीय पदक प्राप्त किया है और यही ऐसा कार्य करता है ? अतः वह ऐसा कार्य नहीं करेगा। पर कदाचित् कोई व्यक्ति उस पोशाक में भी गलत कार्य करे और सोचे कि मैं चाहूँ वो कर सकता हूँ तो क्या वह जेल नहीं जायेगा ? क्या छूट जायेगा ? क्या अहं के पोषण के लिए पदक दिया गया था ? नहीं, इसलिए कि तुम्हारी भावनाओं का सम्मान किया जाता है। अतः वह सेवा के प्रति अधिक तत्पर रहे। पर यदि सोच ले, पदक मिले जब तक तो सेवा करूँ उसके बाद व्यवस्था बिगाड़ूं, ऐसी सोच ही गलत है। साधक जीवन की पोशाक भी ऊपर उठाने में सहायक है परन्तु धारण करने वाला यदि सोचे कि पोशाक मिल गई अब जो चाहे सो करूँ, तो जरा विचार करें कि क्या यह वेश सिर्फ इसलिए मिला था कि लोग कहें धन महाराज, घणी खम्मा, अन्नदाता घणी खम्मा। साधु का बाना पहनकर यदि सोचे कि

माथा मुंडाये तीन गुण, मिटे माथे की खाज।
खाने को लड्डू मिले, लोग कहे महाराज ।।

ध्यान रखना शरीर भारी हो गया तो तिर नहीं सकते। फिर तो कभी कभी कहते हैं -

गुरु लोभी चेला लालची हिलमिल खेलें दाँव।
दोनों डूबे बापड़ा, बैठ पत्थर की नाव ।।

पैर पहले ही हल्के हुए नहीं भारी हैं और दस आदमी उस पर लटक जाय तो वे डुबायेंगे या तिरायेंगे ? लकड़ी के पाटिये को दस व्यक्ति पकड़ भी लें तो भी वह तिरायेगा। पर पत्थर की नौका डुबायेगी ही। ऐसे में यदि अहंकार लाते हो, सोचते हो- हम तो साधु हैं, जो चाहें कर सकते हैं, हम तो तिर ही जायेंगे तो समझ लो कभी तिरने वाले नहीं है।

आज विज्ञान के माध्यम से यह बात सामने आयी कि पैर के अंगुष्ठ से जो ऊर्जा प्रवाहित होती है उसे यदि अंगुष्ठ में कोई शिष्य सिर लगाकर ग्रहण करता है तो ऊर्जा मिलती है। कई भाई यूं यूं (सिर हिलाकर) सिर रगड़ते हैं संत चरणों में। परन्तु यों सिर रगड़ने से ऊर्जा मिल जायेगी ?

श्री कृष्ण के दो पुत्र अपने-अपने को प्रधान समझते थे, उन्हें शिक्षा देने के लिये श्री कृष्ण ने कहा- "जो पहले अरिष्टनेमि भगवान् के दर्शन करे, उसको प्रधान पद दूँ।"

एक भाई सुबह जल्दी उठकर दर्शन करने दौड़ा, दूसरे ने सोचा- वहाँ कब तक पहुँचूंगा ? अतः पहले यहीं से वन्दन कर लूँ वे सर्वज्ञ हैं, मेरा वन्दन यहीं से स्वीकार कर लेंगे। वह वन्दन में बैठ गया। इस प्रकार उसकी वन्दना तो प्रारंभ हो गई जबकि पहला वन्दना करने हेतु दौड़ ही रहा था। तब सोचिये पहला कौन हुआ? निश्चय ही वह जो भगवान को वन्दन कर रहा था। प्रथम को वन्दन करते देख अरिष्टनेमि ने 'अहा सुहं देवाणुप्पिया' भी नहीं कहा। वह सिर रगड़कर जोर-जोर से कहने लगा-"ध्यान रखना मैं आपको

वन्दन करने आया हूँ। श्री कृष्ण से कह देना ....।" पहला श्रीकृष्ण के पास पहुँचा। बोला "मैं वन्दना करके आया हूँ। वह नहीं आया। अतः मेरी प्रधानता ....। कृष्ण ने कहा- इसका निर्णय अरिष्टनेमि ही करेंगे। मैं कैसे कर सकता हूँ ? वन्दना के पीछे यदि किसी प्रकार की कामना जुड़ गई तो वन्दना वन्दना नहीं रहती।"

श्रेणिक महाराजा ने सभी मुनियों की वन्दना की और पसीना-पसीना हो गये। उस सुन्दर सुकुमाल शरीर वाले महाराजा को वन्दना करते पसीना-पसीना होता देखकर गौतम स्वामी ने पूछा- इसके कितने बन्धन टूटे ? आप भी बताइये कितने बन्धन टूटे ? आप कहेंगे ६ नरक के अस्तु ! वहाँ पूछा गया भगवन! कितनी नरक की बाकी रही ? उत्तर मिला- "एक" उसने सोचा- तो एक वन्दन और कर लूँ। तब भगवान् ने कहा- "नो इट्ठे समट्ठे" अब वन्दना, वन्दना नहीं रही। दूध के टब में खून की बूंद गिर गई। इसीलिये कहा गया है -

"सावधान मनसा करी .....।" मन को पहले देखो, यदि कहीं लोभ-मोह की भावना आ गई तो वन्दना, वन्दना नहीं रहेगी।

अरिष्टनेमि से पूछा गया तो उन्होंने बताया- वह वन्दना नहीं अभिमान की अभिव्यक्ति थी। वन्दना के भाव उसमें नहीं थे। जिसके मन में भावना हो वन्दना की, वह घर बैठा भी यदि नमस्कार कर लेता है तो वन्दना हो जाती है। यह बात भली प्रकार समझ लेने की है कि वन्दना कोई औपचारिकता नहीं है, न कोई दिखावा है। वह तो हृदय से की जाती है। उसमें प्रमुख भावना ही होती है। तभी तो गुण मकरन्द प्राप्त होता है।

चरण कमल पद पंकज रे लीनो गुण मकरन्द ।

बन्धुओं ! टेम्प्रेचर है। यदि मेटासिन गोली ली तो ४ का ३. ५ ही होगा, बढ़ेगा नहीं, तब तो विश्वास होगा कि यह मेटासिन ही है। यदि कम न हो तो वह मेटासिन नहीं है, दुकानदार ने कोई अन्य गोली दे दी होगी। वैसे ही सन्तों के चरणों में अथवा तीर्थंकर

यह विनय कैसा हो इसे आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में भली प्रकार समझाया गया है। सच्चा विनय अहंकार-शून्यता है। केवल शरीर से विनय-भाव प्रकट करना वास्तविक विनय नहीं है, सच्चा विनय तो भावना में प्रकट होता है। यही बात भगवान् अरिष्टनेमि ने कृष्ण के प्रथम पुत्र के उनके पास पहुँच कर प्रणाम करने के संबंध में कही थी और उसकी वन्दना को सच्ची वन्दना नहीं माना था। सच्ची वन्दना से व्यक्ति का रूपांतरण होता है और उसकी वृत्तियाँ परिष्कृत होती हैं परन्तु इसके लिये अहंकार छूट जाता है तब मन का समस्त मल भी विगलित हो जाता है। तब विमल जिनेश्वर का रूप नयनों में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार निर्मल दर्पण अथवा निर्मल जल में अपने स्वयं का बिन्ब प्रतबिम्बित होता है। यही वह मानसिकता होती है जिसमें भक्त विस्वल होकर गा उठता है-"विमल जिण दीठा लोयण आज...।"

हम और आप 'विमल' मन की ऐसी ही स्थिति प्राप्त करने के लिये सक्रिय हों जिससे उस मार्ग के दर्शन हो सकें जो इस संसार-सागर में डूबती-उतरती आत्माओं को तट तक सुरक्षित पहुँचा सके। तब दारुण दुःख दूर होंगे और वास्तविक सुख-शान्ति से भेंट भी होगी। इस संदर्भ में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि तिरने की क्षमता कहीं बाहर से प्राप्त नहीं करनी है, वह तो हमारे भीतर ही विद्यमान है परन्तु काम, क्रोध, लोभ जैसी वृत्तियों के शिलाखण्डों ने उसके प्रवाह को अवरुद्ध कर रखा है। आवश्यकता है उन शिलाखण्डों को हटा कर उस धारा को अविचल रूप से प्रवाहित होने देने की स्थितियों का निर्माण करने की, सम्पूर्ण एवं शाश्वत शाँति की प्राप्ति का यही सुगम उपाय है। यह समझ कर जितनी शीघ्रता से उस दिशा में प्रयास प्रारंभ कर दें, उतना ही अच्छा है।

□□

श्री राम उवाच

के भाग